श्री परमात्मने नमः　　　　श्री भगवदात्मने नमः

श्री परमपारणामिकभावाय नमः

श्री

पंचलब्धि

(द्वितीय संवर्धित संस्करण)

लेखक तथा प्रकाशक

ब्रह्मचारी मूलशंकर देशाई

चाकसू का चोक, जयपुर (राजस्थान)

एवं

जागनाथ प्लॉट, प्रभास कुटीर

राजकोट (सौराष्ट्र)

श्रुतपंचमी　　　　वीर संवत् २४७८

तारीख १६ मी जून, सन् १९५२

मूल्य—पौने दो रुपया

विषय-सूचि

विषय पृष्ठ

विषय | पृष्ठ

शुद्धि-पत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
२०	११	ययापका	पर्यायका
२४	१	पूर्तिक	मूर्त्तिक
३२	१३	क्ली	की
३२	१५	द्रव्य धर्म	द्रव्य कर्म
३३	६	भेद	मंद
३४	१७	वाले अजीव तत्व का	वाले का
३६	६	जड़ी	मिथ्या
३६	१०	जड़ी	मिथ्या
३७	६	चाहना	चाहनार
३७	१८	परन्तु	पौद्गलिक शरीर की
३८	१४	स्पर्श सम्पन्द	परिस्पन्द
३८	१५	होगा	होना
३९	२	रहे	है
४७	८	तो किसी देष	तो भी सत्य देष
५८	१५	जोड़नेका	छोड़नेका
६०	११	दाल	दांत
६८	६	बची	बनी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
६६	६	साध्य	सावद्य
६६	१०	निर्ग्रंथ	निश्चय
७२	१३	रोग	राग
७८	१६	अवश्य सेवन	अवश्य मैथुन सेवन
८०	६	समार	समारने
८६	१०	गाथाकरने	गाथा २१ में
६२	१५	प्रवृति	प्रकृति
६६	१४	मिलती थी	मिलती नहीं है
१०५	१४	प्रकट	पुष्ट
१०८	५	देवकी शक्तियां	देवकी भाववती शक्तियां
११५	१५	कीमत हो	कीमत का हो
११७	१३	अन्दर	ऊपर
११७	१६	निम्न	हीन
११८	८	पुरुष	पुजारी
११८	११	सम्य	सौम्य
१३६	१८	जगाता है	जगा पर
१३६	१५	कराती जाती है	कराती नहीं है
१४५	५	शूत्र	स्रुत
१५२	७	चरणानुयोग कहते हैं।	चरणानुयोग मुनि कहते हैं
१५२	७	पर	यह
१५६	१३	होना कारण है	होना कार्य है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
१५७	७	९	९३
१६५	७	पद	पर
१६९	१०	वैसे ही	वही
१७६	१४	सम्यग्दर्शन	सम्यग्दृष्टि
१७९	१२	करना है	करता नहीं है
१८६	१९	अधिकता है	आसकता है
१९२	१९	काय	कार्य
१९८	९	चेतना नो	चेतना तो
२०६	८	भोग	योग
२१४	१०	अबुद्धि	बुद्धि
२२२	१	सरल	सहज
२२४	६	अन्तराय कर्म याति	अन्तराय कर्मघाति
२२४	१८	में कहा है कि	में कहा है।
२२५	३	भॉति	संगति
२३१	५	सघ	संघ
२४०	२०	मानते	कहते
२४७	२	अव्रती विनय	अव्रती का विनय
२४८	१४	पर्याय की पुष्टि	पर्याय पूर्ण
२५२	२	अनेकान्त	एकान्त
२५८	४	अग्नि	अस्ति
२६३	१२	पद	पर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धि	शुद्ध
२६९	२-३	गाड़ी	घोड़ा
२६९	७	तीन	हीन
२६९	१८	से	में
२७३	११	में	है।
२७८	५	करता	कहता
२७९	११	पापके	—
२९९	७	धरती	घटती
२९९	१३	सत्यभूत	सत्वभूत
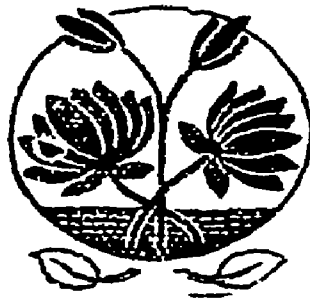
श्री परमात्मने नमः श्री भगवदात्मने नमः

श्री परम पारणामिक भावाय नमः

श्री

★ पंच-लब्धि ★

मंङ्गलाचरणम्

सर्वव्याप्येक चिद्रूप स्वरुपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥

अन्वयार्थ——सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता—दृष्टा) एक चैतन्य रूप (मात्र चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है, और जो स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मानुभव से प्रकृष्टतया सिद्ध है) उस ज्ञानानन्दात्मक (ज्ञान और आनन्दस्वरूप) उतकृष्ट आत्माको नमस्कार हो ॥

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशय जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥

अर्थ—जो महा मोह रूपी अंधकार समूह को लीला मात्र में नष्ट कर जगत के स्वरूप को प्रकाशित करता है, ऐसा अनेकांतमय तेज सदा जयवंत हो।

पंचलब्धि का स्वरूप यदि सरल भाषा में लिखा जावे तो वह अनेक जीवों के लाभ का कारण हो सकता है, ऐसा धर्मानुराग होते योग के अनुकूल शास्त्रकी रचना होगयी। छद्मस्थ जीवों का कार्य कभी कभी उनके विकल्प के प्रतिकूल भी देखा जाता है। इसी प्रकार इस शास्त्र रचनामें भी यदि कोई भूल रहगई हो, और वह यदि किसी विशिष्ट ज्ञानी के लक्षमें आजाये तो उसे सुधार लेनेके लिये मेरा नम्र निवेदन है। इतना कहकर मैं परमात्मा को नमस्कार कर पंच लब्धि का स्वरूप आरंभ करता हूँ।

लब्धि पांच होती हैं। लब्धि शब्द का अर्थ प्राप्ति है, जीव में पांच प्रकार के भावों की प्राप्ति होना ही पंच लब्धि है। उन पांच प्रकारके भावों के नाम इस प्रकार हैं— (१) क्षयोपशमलब्धि (२) विशुद्धि लब्धि (३) देशना लब्धि (४) प्रायोग लब्धि (५) करण लब्धि। जिस समय जीवमें करण लब्धि रूप भाव प्रकट होता है उसी समय जीवमें नियमानुसार सम्यग्दर्शन रूप की अवस्था प्रकट होती है। करण लब्धि रूप भाव में आत्मा कभी

गिरती नहीं। नियमसे उसके भाव बढते २ सम्यग्दर्शन रूप अवस्था को प्राप्त होते हैं। तब हमें देखना चाहिये कि आत्मामें इन पांच प्रकार के भावों में से कितने भावों की प्राप्ति हुई ? शेष भावों के लिये आत्माको पुरुषार्थ करना चाहिये, यही उसका प्रथम कर्तव्य है।

"क्षयोपशम लब्धि"

प्रश्न—क्षयोपशम लब्धि किसे कहते हैं ?

उत्तर—जिस शक्ति द्वारा आत्मा अपना अच्छा बुरा, हित अहित, कल्याण अकल्याण तथा सुख दुख, का ज्ञान करे उसी शक्ति का नाम क्षयोपशम लब्धि है।

शास्त्रीय भाषामें यह कह सकते हैं कि यदि आत्माको मनः पर्याप्ति की प्राप्ति हो जावे, दश द्रव्य प्राणोंकी प्राप्ति हो जावे अथवा यदि वह संज्ञी पंचेन्द्रिय हो तो उसे क्षयोपशम लब्धि की प्राप्ति भी हो गयी है ऐसा जानना चाहिये। ऐसा आत्मा आठ वर्ष की अवस्था हो जाने पर यदि अपना कल्याण मार्ग ग्रहण करना चाहे तो ग्रहण कर सकता है। जैसे धन को भोग में लगावे अथवा दान में यह आत्मा के विचारों पर अवलंबित है। इसी प्रकार इस क्षयोपशम रूप ज्ञानको पांच इन्द्रिय के विषयमें

लगाना कि आत्मा के कल्याण के मार्ग पर लगाना यही आत्मा के वर्तमान पुरुषार्थ पर अवलंबित है। इसमें कर्म का दोष निकालना, मूर्खता है। यह दोष कर्म का नहीं किन्तु आत्मा का ही दोष है। ऐसे ज्ञान की प्राप्ति को ही क्षयोपशम लब्धि कहते हैं।

"विशुद्धि लब्धि"

प्रश्न—विशुद्धि लब्धि किसका नाम है?

उत्तर—जब आत्मा में शारीरिक दुःख की अवस्था होती है, अथवा जब मरघट (श्मशान) वैराग्य रूप चिन्तवन होता है तब वह विचारता है कि यह जन्म, मरण कैसे हो रहा है? अमुके जीवको सुखी और दुःखी कौन बनाता है? अमुक जीव धनी और निर्धन कैसे होता है? मैं कौन हूं? इस संसार में मेरा आना क्यों हुआ है? किस कार्य से आना हुआ है? इत्यादि विचार करता है, तब यथार्थ बात बुद्धि में नहीं आने के कारण शास्त्र स्वाध्याय, देव दर्शन करने की भावना होती है। रूढ़ी के अनुकूल वीतराग जिन बिंबका दर्शन भी करने को जाता तो है किंतु फिर भी यथार्थ दर्शन वह कभी भी नहीं करपाता यदि यथार्थ दर्शन उसे एक बार भी हो जाता तो नियमसे वह जीव अपने कल्याण के पथ पर आ जाता। परन्तु मात्र

रूढ़ि में फंसा हुवा आत्मा विशेष विचार भी नहीं करता कि इतने वर्ष से देव दर्शन करने एवं भक्ति करने पर भी मेरी आत्मामें शान्ति क्यों नहीं आती है ? देव दर्शन से शान्ति नियम से मिलनी ही चाहिये ? तो भी रूढ़ि में ही वर्षों व्यतीत कर रहा है। यदि यथार्थ आत्म शान्ति के लिये देव दर्शन एवं भक्ति करता होता तो नियमसे जीव विचार करता कि भक्ति करने पर भी शान्ति की गंध भी नहीं आती है इससे मालुम होता है कि नियमसे भक्ति में कुछ गलती रह जाती है। ऐसा विचार कर अपनी गलती निकालने की नियम से चेष्टा करता। यदि गलती निकाल कर एक ही वार सच्चे लक्षसे देवका दर्शन करता तो जीव मोक्ष के मार्गपर नियमसे आजाता। जैसे-

एक गड़रिया था। वह वहुत सी बकरिया एवं भेडें रखता था। वह जंगलमें ही रहता थो। एक दिन जंगलमें उसी गडरियेको एक शेर का बच्चा हालका जन्मा हुवा मिल गया। उस शेर के बच्चे को उठा कर उस गड़रिये ने अपनी वकरियों तथा भेडों की टोली में रख दिया। शेर के वच्चे को अपने का ज्ञान नहीं है "कि मैं कौन हूँ" ? उसने अपना चेहरा तो देखा ही नहीं था परन्तु वह वकरियों का चेहरा देखता था इस कारण से वह भी मानने लगा कि मैं भी वकरी या भेड हूं। यही मान्यता

यथार्थ में अपनी जातिका ज्ञान हो जावे तो जीव जो शरीर को अपना मानकर दुःखी हो रहा है वहां से उदासीन होकर अपने में ही अपनत्वकी बुद्धिकर अपने कल्याण के पथ पर आ जावेगा। परन्तु इतना विवेक नहीं होने के कारण अल्प मात्र शास्त्र अभ्यास कर दिन व्यतीत कर रहा है। जब जीवमें अपने कल्याण करने की तीव्र भावना जागृत होती है तब वह शास्त्र ज्ञान होने से विचार करता है कि मेरा कल्याण नियमसे सत्पुरुष द्वारा ही हो सकता है। तब वह जीव सत्पुरुष निःस्पृही निर्ग्रन्थ गुरुको ढूंढने के लिये जंगल में ही निकलेगा क्योंकि शास्त्र ज्ञान के द्वारा इतना उसे मालुम ही है कि निस्पृही गुरु जंगल में ही रहते हैं। इस प्रकार से आत्मामें ही अपने कल्याण करने के भाव के साथ गुरुके पास जानेका भाव भी हुआ है उसी भावका नाम विशुद्धि लब्धि है। अब सोचना यह है कि ऐसा भाव मेरी आत्मामें हुआ है या नहीं। यदि नहीं हुवा है तो मानना चाहिये कि अभी मेरी आत्मामें विशुद्धि लब्धि रूप भाव नहीं हुवा है। तब उस भावको प्राप्त करने का पुरुपार्थ करना चाहिये।

"देशना लब्धि

प्रश्न—देशना लब्धि का क्या स्वरूप है?

उत्तर—संसारसे भयभीत आत्मा आत्म कल्याण की

भावना से प्रेरित होकर अपने कल्याण के मार्ग को न जानने से बुद्धि पूर्वक परीक्षा करके श्री गुरु के चरणों में जाकर बडी भक्ति एवं विनय के साथ प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! मेरी आत्मा का कल्याण कैसे हो? ऐसा मुमुक्षु प्राणी सांसारिक विषय सुख की वांछा नहीं करता है एवं तद्विषयक अर्थात् संसारके पदार्थों की प्राप्ति के लिए एक प्रश्न भी नहीं करता है। धन की प्राप्ति कैसे हो, लड़के की प्राप्ति कैसे हो, मुकद्दमा कैसे जीतूं, ऐसी वांछा तो उसके है ही नहीं यदि कोई भावना है तो एक मात्र यही भावना है कि मेरी आत्मा का कल्याण कैसे हो?

उस जीव की ऐसी जिज्ञासा व विनय देखकर श्री सद्गुरु कल्याण का जो मार्ग है वह प्रगट करते हैं अर्थात् दिखाते हैं।

हे भव्य! कल्याण का मार्ग यह है। आगम द्वारा छह द्रव्य, सप्त तत्व, भाव कर्म, द्रव्य कर्म, तथा नो कर्म का यथार्थ स्वरूप समझ लेना ही सर्व प्रथम आत्मा का कर्तव्य है। यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति बिना क्रियाकान्डमें फँस जाना या व्यवहार तप नियम त्याग में फंस जाना यह मोक्षमार्ग में लेजाने वाला मार्ग नहीं है। क्योंकि ज्ञान किये बिना त्याग किसका करोगे? त्याग तो कषायका करना चाहिये परन्तु अज्ञान में जीव विषय सामग्री का

त्याग कर ही अपने को धर्मात्मा मानकर चारों ही गति का पात्र बन जाता है।

शिष्य—हे प्रभो! कृपाकर मुझको छह द्रव्य, सप्त तत्व, आदिका क्या स्वरूप है समझाइये ?

गुरु—पदार्थ का स्वरूप निम्न प्रकार है। तू ध्यान देकर सुन ? जिनकी आत्मा में आल्हाद उत्पन्न हुआ है वे बडी भक्ति एवं विनय के साथ श्री गुरु के उपदेशामृत का पान तीव्र जिज्ञासा भाव से करते हैं। जिज्ञासा भाव से उपदेशको सुनकर उस पर विचार कर धारणा में उसी उपदेश को ऐसे रखना जैसे भूले नहीं। ऐसी धारणा रूप आत्मा की अवस्था उसी का नाम देशना लब्धि है। उस देशना लब्धि का स्वरूप निम्न प्रकार से है।

हे भव्य! द्रव्य छह हैं। (१) जीव द्रव्य, (२) पुद्गल द्रव्य (३) धर्मास्तिकाय द्रव्य, (४) अधर्मास्तिकाय द्रव्य, (५) आकाशास्तिकाय द्रव्य (६) काल द्रव्य।

प्रश्न—हे प्रभो! जीव द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जो देखता जानता है, जो सुख दुःख की अवस्था का अनुभव करता है और जो मनुष्य, देव, तिर्यंच, नारकी की अवस्था धारण करता है उसी का नाम जीव द्रव्य

है। जानना देखना जीवका स्वभाव भाव है। सुख दुःख का अनुभव करना यही जीवकी विकारी अवस्था है और मनुष्य देव तिर्यंच नारकी आदिकी अवस्था धारण करना यही जीवकी कर्म जनित संयोगी अवस्था है।

प्रश्न—हे प्रभो! द्रव्य किसको कहते हैं अर्थात द्रव्य का क्या लक्षण है?

उत्तर—द्रव्य का लक्षण तीन प्रकार का है। (१) सत् (२) उत्पाद व्यय और ध्रौव्य (३) गुण पर्यायके समूह को धारण करना।

प्रश्न—सत् किसको कहते है या सत् का क्या स्वरूप है?

उत्तर—द्रव्य में अस्तित्व नामका गुण है जो द्रव्य की तीनों काल हयाती या मौजूदगी दिखाता हैं उसी गुणका नाम सत् हैं। अर्थात जिसका तीनों काल में कभी नाश न हो उसीका नाम सत् है।

शंका—द्रव्य का लक्षण सत् है उसे जानने से क्या लाभ?

समाधान—जिस जीवको अपने सत् का ज्ञान है वह जीव कभी भी नहीं कहेगा कि मेरा मरण होता है?

मेरी रक्षा करो ! इसी सत् के ज्ञान के कारण सम्यग्दृष्टि जीव को सप्त प्रकार का भय नहीं होता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा सत् रूप है उसका कभी भी नाश नहीं होता है। और जिस जीव को द्रव्य का ज्ञान नहीं है वह जीव कहेगा कि मेरा नाश होता है। इससे सिद्ध होता है कि सत् का ज्ञान करना जीव के लिये बहुत ही जरूरी है।

प्रश्न–उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—द्रव्य सत् होने से उसकी समय समय में अवस्था बदलती है तो भी वह नित्य रहता है। द्रव्य अपनी मौजूदगी कायम रखकर अपनी एक अवस्था से दूसरी अवस्था धारण करे उसीका नाम उत्पाद्—व्यय-ध्रौव्य है। जैसे जीव द्रव्य अपनी मनुष्य अवस्था का नाश करे वह तो व्यय है और उसी समय में देव पर्याय की अवस्था को धारण करे उसका नाम उत्पाद है और द्रव्य को दोनों अवस्थाओं में कायम रखे उसका नाम ध्रौव्य है। ऐसे उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य का ज्ञान करने वाले जीव अपनी अवस्था को बदलने में कभी भी दुःखी नहीं होते हैं यही उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य का ज्ञान करने का फल है।

प्रश्न—गुण पर्याय को धारण करने का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—आत्मा अपने गुण पर्याय को छोड़कर कभी भी दूसरे द्रव्य के गुण पर्यायको धारण नहीं करता जैसे जो आत्मामें ज्ञान गुण है वही मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान रूप अवस्था है। इस ज्ञान गुण की कोई सी भी एक अवस्था बिना आत्मा कभी रहता ही नहीं। जिसे अपने गुण पर्याय का ज्ञान है वह आत्मा कभी भी नहीं कहेगा कि मेरे ज्ञान का नाश होता है या मुझे ज्ञान दो ऐसी भावना उस जीव को होती ही नहीं। वह जानता है कि ज्ञान लेने देने की चीज नहीं है। पराया ज्ञान अपने में आता ही नहीं, दूसरे के दुःख और सुखकी अवस्था अपने में आती ही नहीं। ऐसे ज्ञान वाला जीव ऐसा नहीं कहेगा कि मुझे बचावो, या कोई मुझे मार सकता है, या कोई जीवन देसकता है, या मुझे कोई सुखी दुःखी कर सकता है। इस धारणा पर तो जीव अपने आप ही कल्याण कर सकता है परका अवलम्बन या परकी आशा नहीं करता है यही स्वाधीन बननेका एक मात्र कारण है। इसलिए गुण पर्याय को धारण करने वाला मैं ही द्रव्य हूं ऐसा श्रद्धावान् जीव ही अपना कल्याण कर सकता है। परन्तु जो जीव गुण पर्याय को धारण करने वाला अपने को द्रव्य नहीं मानता है वही जीव नियमसे परावलंबी परकी खुशामद करनेवाला, परकी भीख मांगने वाला, अज्ञानी

स्वभाव में से बाहर निकलता है वही आत्माका घात है, इसी कारण से अरहंत भक्ति के भाव को भी मोक्ष मार्ग में व्यभिचारी भाव कहा है, क्योंकि उसी भाव से घातिया कर्मों में पाप का ही बन्ध पडता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मामें जो करने का भाव होता है वही सब बन्ध का ही भाव है।

प्रश्न—प्रभो ! कर्मफल चेतना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—हे, शिष्य ! आत्मा में जो भोगने के भाव होते हैं, उन सभी भावों का नाम कर्म फल चेतना है। वे सभी भाव पाप के ही भाव हैं।

शंका—प्रभो ! शुद्ध मर्यादित आहार खाने का भाव कौनसा भाव है ?

समाधान—हे शिष्य ! शुद्ध आहार खाने का भाव भी पाप भाव है क्योंकि वह भी कर्म फल चेतना है।

शंका—प्रभो ? शुद्ध आहार खाने का भाव पापभाव कैसे है, वह तो अच्छा भाव है ?

समाधान—हे शिष्य ! यह भाव अशुद्ध आहार खानेकी अपेक्षा कम पाप का भाव है परन्तु है तो कर्मफल चेतना का भाव। जैसे परदारा भोगने का भाव तो तीव्र

पाप भाव है परन्तु स्वदारा भोगने का भाव भी तो पाप भाव है किन्तु स्वदारा भोगने में परदारा भोगने जितनी तीव्र अभिलाषा नहीं होने से उसकी अपेक्षा तीव्र पाप भाव नहीं होते हुए भी पाप का ही भाव है।

शंका—हे प्रभो ! स्वदारा भोगने के भावका नामतो **"स्वदारा संतोष व्रत"** कहा है वह पाप भाव कैसे है ?

समाधान—हे शिष्य ! स्वदारा भोगना यह व्रत नहीं है परन्तु परदारा भोगने के भाव का अभाव हुआ, उस अभाव रुप भाव का नाम व्रत है। परन्तु स्वदारा भोगना यह व्रत नहीं है यह तो अव्रत भाव है अर्थात् पाप भाव ही है।

प्रश्न—ज्ञान चेतना का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—न कर्म करने का भाव हो, न कर्मफल भोगने का भाव हो परंतु वीतराग भाव कर लोकका ज्ञाता दृष्टा रहे वही ज्ञान चेतना है वही धर्म भाव है और ऐसे ही धर्म भाव से आत्मा सिद्ध पद की प्राप्ति करता है अर्थात आत्मा परमात्मा वन जाता है।

शंका—प्रभो ! पुन्य भाव को तो शास्त्रों में धर्म भाव भी कहा है ?

समाधान—हे शिष्य ! वहां तो व्यवहार से पुन्य भाव को धर्म भाव कहा है। परन्तु व्यवहार का अर्थ इतना ही करना चाहिये कि यथार्थ में यह नहीं है।

शंका—तब यथार्थ में धर्म भाव कौन सा है ?

समाधान—वीतराग भाव का ही नाम धर्म भाव है यही भाव मोक्ष का कारण है।

शंका—प्रभो ! पुन्य भाव को तो परंपरा मोक्ष का कारण तो शास्त्रों में कहा है वह किस प्रकार कहा है ?

समाधान—पुन्य भाव को परंपरा मोक्ष का कारण कहा है वहां परंपरा का अर्थ पुन्य भाव छोड़ते २ मोक्ष का कारण होगा परन्तु पुन्य भाव करते करते मोक्ष होगा ऐसा श्रद्धान नहीं करना। कारण दो प्रकार का होता है। (१) सद्-भाव कारण (२) अभाव कारण। यहाँ पुन्य भाव का अभावही परंपरा मोक्ष का कारण है, ऐसा श्रद्धान करना। परन्तु पुन्य भाव का सद्भाव यह मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु मोक्ष का घात करने वाला है। जैसे कांदा (प्याज) खाते खाते अमृत की डकार न आवे परन्तु कांदा छोड़ते छोड़ते अमृत की डकार आवे अर्थात् पाप भाव छोड़ते छोड़ते पुन्य भाव होता है उसी प्रकार पुन्य भाव छोड़ते

छोड़ते धर्म भाव होता है। यही ज्ञान सम्यक्ज्ञान है।

प्रश्न—प्रभो! उपयोग का क्या स्वरूप है?

उत्तर—हे शिष्य! उपयोग दो प्रकारका है। (१) सवि-कल्प-निर्विकल्प उपयोग (२) शुद्ध-अशुद्धोपयोग।

प्रश्न—सविकल्प उपयोग का क्या स्वरूप है?

उत्तर—ज्ञान चेतनाका नाम सविकल्प उपयोग है। वह उपयोग पांच प्रकारका है:— (१) मतिज्ञान (२) श्रुत-ज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्ययज्ञान (५) केवल-ज्ञान। प्रथम चार ज्ञानका नाम क्षयोपशम ज्ञान है और पांचवा केवलज्ञानका नाम क्षायक ज्ञान है। क्षयोपशम ज्ञान पराधीन ज्ञान है और एक मात्र केवलज्ञान स्वाधीन ज्ञान है।

प्रश्न—निर्विकल्प उपयोग का क्या स्वरूप है?

उत्तर—दर्शन चेतना का नाम निर्विकल्प उपयोग है। दर्शन चेतना चार प्रकारकी होती है। (१) चक्षुदर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधिदर्शन (४) केवलदर्शन। आदि के तीन दर्शन क्षयोपशम दर्शन हैं और एक मात्र केवल दर्शन क्षायक दर्शन है। प्रथमके तीन दर्शन या क्षयोपशम दर्शन पराधीन दर्शन हैं अर्थात् इन्द्रिय और

मनकी सहायता से ही देखते हैं और एक मात्र केवलदर्शन स्वतंत्र दर्शन है। इस दर्शनमें इन्द्रियों या मन की सहायताकी जरुरत नहीं है।

प्रश्न—दर्शन चेतना और ज्ञान चेतनामें क्या अंतर या भेद है ?

उत्तर—दर्शन चेतना सामान्य अवलोकन करती है अर्थात् पदार्थको अपने रूपसे ही देखती है और ज्ञान चेतना पदार्थको गुण गुणी भेदकर एवं गुण पयोय भेद कर देखती है। यही दोनों में भेद है। ज्ञान चेतना की पूर्व पर्यायका नाम दर्शन चेतना है अर्थात् अवग्रह ज्ञानकी आरंभ के पूर्व क्षणकी ययोपका नाम दर्शन चेतना है।

शंका—ये दोनों चेतना छद्मस्थ जीवोंको एक साथ होती हैं या नहीं ?

समाधान—ये दोनों चेतना छद्मस्थ जीवों के एक साथ नहीं होती हैं परन्तु एक चेतना जब कार्य रूप होगी तब दूसरी चेतना लब्धि रूप होगी। दोनों चेतना साथमें कार्य नहीं करती हैं।

शंका—दोनों चेतनाओं का साथ में कार्य न करनेका क्या कारण है ?

समाधान—दोनों चेतनाएं पराधीन हैं अर्थात् इन्द्रिय और मनकी सहायतासे देखती हैं जब एक चेतना ने पर इन्द्रियों की सहायता ली है तब परकी सहायताके अभावके कारण दूसरी चेतना लब्धि रूप रहती है क्योंकि दोनों चेतनाओंके लिये निमित्त कारण एक ही है यद्यपि दोनोंमें देखने की शक्ति है परन्तु निमित्तके अभावके कारण दोनों चेतनाएं साथमें कार्य नहीं कर सकती हैं। जैसे दो मनुष्यों को टेलीफोन करना है दोनों में टेलीफोन करने की शक्ति भी है परन्तु टेलीफोन एक ही है। जब एक मनुष्य टेली-फोन करेगा तब दूसरे मनुष्य को टेलीफोन करने की शक्ति होते हुए भी टेलीफोन नहीं होने के कारण बैठना ही पड़ता है। राह देखनी ही पडती है। परन्तु जिस प्रकार दोनों मनुष्य एक ही टेलीफोन में एक साथ काम नहीं कर सकते हैं उसी प्रकार दर्शन चेतना तथा ज्ञान चेतनाक देखने की शक्ति होते हुए भी इन्द्रिय रूप निमित्त एक ही होने से जब दर्शन चेतना देखती है तब ज्ञान चेतना राह देखती है अर्थात् लब्धि रूप रहती है और जब ज्ञान चेतना देखती है तब दर्शन चेतना को राह देखनी पडती है अर्थात् लब्धि रूप रहती है।

प्रश्न—शुद्धोपयोग का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—मात्र वीतराग भावकाही नाम सुद्धोपयोग है यही भाव मोक्षका कारण है। इसी भावको ही धर्म भाव कहते हैं।

प्रश्न—अशुद्धोपयोग भाव किसको कहते हैं ?

उत्तर—पुण्य और पाप भाव का नाम अशुद्धोपयोग है। इसी भावका नाम बन्ध भाव है। यही भाव संसारका कारण है। कहा भी है कि:—

पुन्य पाप जग बीज है, याहीतें संसार।
जनम मरण दुःख सुख सहै, भय्या सब संसार।

प्रश्न—प्रभो ! जीव कितने प्रकार के हैं।

उत्तर—हे शिष्य ! जीव दो प्रकारके कहे जाते हैं। (१) संसारी जीव (२) मुक्त जीव।

प्रश्न—प्रभो ? संसारी जीवका क्या स्वरूप है।

उत्तर—जो सदा काल तादात्म संबंन्ध से चैतन्य प्राण से जीता है और संयोग सम्बन्धसे चार प्राण का अर्थात् बलप्राण, इन्द्रिय प्राण, आयु प्राण और श्वासोच्छ्वास प्राणकर जीता है वही जीव है। जो निश्चयनय से अपने चेतना गुणसे अभेद एक वस्तु है परन्तु व्यवहार

नय से जो दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुणोंको धारण करता है वही जीव है। जो आश्रव संवर निर्जरा और मोक्ष इन तत्वों में तादात्म संबन्ध से भाव कर्मों की सामर्थता से संयुक्त है अर्थात् अपनी निजकी परिणति रूप है और संयोग संबन्ध से जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि कर्मों की ईश्वरता संयुक्त है इसी कारण जिसको प्रभू भी कहा जाता है। जो तादात्म संबन्ध से पौद्गलिक कर्मों का निमित्त पाकर जो जो अपनी विकारी अवस्था होती है उस अवस्था का कर्ता है और संयोग सम्बन्ध से अपने अशुद्ध विकारी परीणामों का निमित्त पाकर जो पौद्गलिक ज्ञाना वरणादि द्रव्य कर्म उपजते हैं उन का कर्ता है। जो तादात्म संबन्ध से पौद्गलिक शुभ अशुभ कर्मों के निमित्त से जो अपने सुख दुःख रूप परिणामों का भोक्ता है, और संयोग सम्बन्ध से शुभ अशुभ पौद्गलिक द्रव्यकर्मों के उदय से उत्पन्न जो इष्ट अनिष्ट पौद्गलिक विषय उन का भोक्ता है। जो तादात्म सम्बन्ध से यद्यपि लोक मात्र असंख्यात प्रदेशी है तोभी संयोग सम्बन्ध से अपनी संकोच विस्तार शक्ति से पौद्गलिक नाम कर्म के द्वारा निर्मापित जो लघु दीर्घ शरीर उसके परिमाण ही तिष्टता है इस कारण स्वदेह परिमाण है। जो तादात्म सम्बन्ध से स्वाभाविक भाव से अमूर्तिक है परन्तु संयोग सम्बन्ध से पौद्गलिक कर्मों

से एक स्वभाव होने से पूर्तिक विभाव रूप परिणमता है। है। तादात्म सम्बन्ध से पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का निमित्त पाय उत्पन्न हुए जो अपने चैतन्य रागादि रूप परिणाम उनकर संयुक्त है और संयोग सन्बन्ध से अशुद्ध चैतन्यका रागादिक रूप परिणामों का निमित्त पाकर जो ज्ञाना वरणादिक पौद्गलिक द्रव्य कर्म हुये उसीसे संयोगी अवस्था है। पंचास्तिकाय में कहा भी है कि—

जीवोत्ति हवदि चेदा उपयोग विसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता, य देहमत्तो णत्रि मुत्तो कर्मसंजुतो ॥२३॥

प्रश्न—प्रभो ! मुक्तजीवका क्या स्वरूप है ?

उत्तर--जो ज्ञानावरणादिक अष्ट द्रव्य कर्म तथा रागादिक भाव कर्मों से सर्व प्रकार से मुक्त हुवा है। अष्ट कर्मों का अभाव होने से जिसने अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान, अनंत सुख, अनंत वीर्य, अव्याबाध, अवगाहना, अगुरुलघुत्व तथा शून्मत्व पर्यायों की प्राप्ति की है। मोक्ष अवस्था में भी आत्मा के आत्मीय अविनासी भाव प्राण भी हैं उनसे सदा जीवे है उसने समस्त आत्मीय शक्तियों की समर्थता प्रगट की है इस कारण से प्रभुत्व भी कहा जाता है। अपने ही स्वरूप में सदा परिणमन करता है इसी कारण जीवको कर्ता भी कहा जाता है। स्वाधीन सुखके आस्वादन से जीवको

भोक्ता भी कहा जाता है। चर्म शरीर अवगाहन से किंचित ऊन पुरुषाकार आत्म प्रदेशोंकी अवगाहना लिये हुए हैं इसी कारण जीवको देह मात्र भी कहा जाता है। जो लोक के अग्रभाग पर अपने आत्मीय प्रदेशों से विराजमान है। जो सविकार पराधीन इन्द्रिय सुख से रहित अमर्यादित आत्मीय स्वभाविक सुख को भोगता है, यही मुक्त जीवका स्वरूप है। पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा भी है कि—

कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाणदोरिसी लहदि सुहमणिंदिय मणंतं॥

प्रश्न--पुद्गल द्रव्य का क्या स्वरूप है?

उत्तर--जो अणु रूप है। जिसका दूसरा खण्ड नही होसकता है उसीको शुद्ध पुद्गल परमाणु कहते हैं। जिसमें आदि, मध्य, अन्तका भेद नही पड़ता है। जिसमें रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नामके प्रधान चार गुण हैं। जिसमें रूपकी, रसकी और गन्धकी एक २ पर्याय होती है और स्पर्श नाम के गुणकी शीतस्निग्ध, शीतरूक्ष, उष्णरूक्ष, उष्णस्निग्ध इन दो युगलों में से एक युगल पर्याय मिलकर एक समयमें पांच पर्याय चार गुणकी होती हैं। परमाणु का स्कन्ध रूप होना और स्कन्ध में से अलग परमाणु रूप होजाना यह उसीका स्वभाव होने से उसका नाम पुद्गल

है। जिसके स्कन्ध में गलना, बिगड़ना, मिलना, सड़ना भंग होना शब्दरूप अवस्था होना इत्यादि अनेक अवस्था होती है। स्कन्ध अनेक प्रकार के होते हुए भी छह भेदों में उनका समावेश हो जाता है। (१) बादरबादर (२) बादर (३) बादरशूक्ष्म (४) शूक्ष्मबादर (५) शूक्ष्म (६) शूक्ष्म-शूक्ष्म। जो स्कन्ध का टुकडा होने के बाद मिले नहीं ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम बादरबादर स्कन्ध है। जैसे पत्थर, लकड़ी, कागज आदि। जो पुद्गल के स्कन्ध अलग अलग करने के बाद मिल जावें ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम बादर स्कन्ध है। जैसे प्रवाही पदार्थ जल, तेल, घृत-दूध, आदि। जो पुद्गल स्कन्ध देखने में आवे परन्तु पकड़ा नहीं जावे ऐसा पुद्गल स्कन्धका नाम बादरशूक्ष्म स्कन्ध है। जैसे धूप, चांदनी, छाया इत्यादि। जो पुद्गल स्कन्ध देखने में भी न आवे एवं पकड़ा भी न जावे परन्तु इन्द्रियों द्वारा जिसका ज्ञान हो जावे ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम शूक्ष्म-बादर स्कन्ध है जैसे शब्द, हवा, गन्ध इत्यादि। जिस पुद्गल स्कन्ध का ज्ञान भी न होवे परन्तु आगम द्वारा प्रसिद्ध है ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम शूक्ष्म स्कन्ध है। जैसे कार्माण शरीर इत्यादि। जो पुद्गल स्कन्ध जघन्य परमाणु से स्कन्ध बना है जो आगम ज्ञान से प्रसिद्ध है ऐसे पुद्गल स्कन्ध का नाम शूक्ष्म-शूक्ष्म स्कन्ध है। जैसे

दो अणुआदिका बना स्कन्ध । पुद्गल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होने से पुद्गल को रूपी कहा जाता है और जिस द्रव्य में यह गुण न पाया जावे उसीका नाम अरूपी द्रव्य है। आंखसे देखा जावे उसीका नाम रूपी और आंख से न देखा जावे उसी का नाम अरूपी ऐसा अरूपी, रूपी का स्वरूप नहीं है। ऐसा पुद्गल द्रव्य लोक में अनंतानंत है।

प्रश्न—धर्मास्तिकाय नामके द्रव्यका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिसमें गति हेतुत्व नामा गुण हो उसीका नाम धर्मास्तिकाय नाम का द्रव्य है। जो द्रव्य स्वयं निष्कम्प है, निष्क्रिय है परन्तु जीव और पुद्गल दोनों द्रव्योंकी चलने में उदासीन रूप से सहायता करता है, जैसे जल मछलीको जबरदस्तीसे नहीं चलाता परन्तु मछली जलकी सहायता बिना चल भी नही सकती उसी प्रकार जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य स्वयं चलते हैं, धर्मास्तिकाय द्रव्य उसे जबरदस्ती से नही चलाता तो भी जीवद्रव्य, और पुद्गलद्रव्य धर्मास्तिकायकी सहायता बिना चल नहीं सकता यही धर्मास्तिकाय द्रव्यका सहज स्वभाव है। धर्मास्तिकाय द्रव्य अखण्ड एक द्रव्य है।

प्रश्न—अधर्मास्तिकाय नामके द्रव्यका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस द्रव्यमें प्रधानतया स्थिति हेतुत्व

नामका गुण हो उसीको अधर्मास्तिकाय द्रव्य कहा जाता है। जो जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्यको स्थित होनेमें बाह्य रूप से उदासीन निमित्त है। जैसे धूपके दिनमें घूमने वालेको पेडकी छाया ठहरनेमें उदासीन रूप से सहायता देती है, परन्तु पेडकी छाया उसे जबरदस्ती से नहीं ठहराती उसी प्रकार जीवद्रव्य और पुद्गलद्रव्यको अधर्मास्तिकाय सहज ठहरने में उदासीन निमित्त है तो भी अधर्मास्तिकाय द्रव्य विना जीव द्रव्य और पुद्गल द्रव्य ठहर नही सकते हैं। अधर्मास्तिकाय अखण्ड द्रव्य है।

शंका—लोकमें धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय द्रव्य क्यों मानना चाहिये? ये दोनों कार्य आकाश द्रव्य कर सकता है ऐसा मानने में क्या बाधा आती है?

समाधान—लोकमें धर्मास्तिकाय द्रव्य एवं अधर्मास्तिकाय द्रव्य जरूरी हैं। उसके विना आकाश के दो हिस्से लोकाकाश और अलोकाकाश नहीं होते इस कारण से तो लोकाकाश कहा जाता है। यदि अधर्मास्तिकाय नहीं होता तो जो जीव पुद्गल चलते थे वे चलते ही रहते परन्तु ठहरते नहीं और अधर्मास्तिकाय द्रव्य न होता तो जो पुद्गल और जीव द्रव्य ठहरते वे ठहरते ही रहते चल नहीं सकते थे। इससे सिद्ध होता है कि यह दोनों द्रव्य जरूर हैं।

प्रश्न—आकाशास्तिकाय द्रव्य का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस द्रव्यमें प्रधानपने अवगाहनत्व नामका प्रधान गुण है उसी द्रव्यका नाम आकाश द्रव्य है। जो सब द्रव्योंको अवगाहनादेने में उदासीन निमित्त कारण है। जितने आकाश क्षेत्र में पांचों द्रव्य रहते हैं इतने आकाश क्षेत्रका नाम लोकाकाश है और जिस आकाश क्षेत्रमें और द्रव्य नहीं है उसीको अलोकाकाश कहते हैं यद्यपि आकाश द्रव्य अखंड एक ही द्रव्य है परन्तु निमित्तकी अपेक्षासे दो प्रकार कहा जाता है।

प्रश्न—काल द्रव्यका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जिस द्रव्यमें परिवर्तना नामका प्रधान गुण है उसी द्रव्य को काल द्रव्य कहते हैं। जो द्रव्य सब द्रव्योंकी अवस्था बदलने में उदासीन निमित्त है। लोका-काशके एक एक प्रदेश पर कालाणु नामका द्रव्य है। कालाणु नामके द्रव्य असंख्यात हैं।

प्रश्न—हे प्रभो ! धर्म द्रव्य व अधर्मद्रव्य जीव और पुद्गल द्रव्यों को ही चलने में और ठहरने में क्यों सहकारी हैं ? अन्य द्रव्यों को क्यों सहकारी नहीं होते हैं ?

उत्तर—हे शिष्य ! छहों द्रव्य में मात्र जीव और

पुद्गल द्रव्य ही क्रियावान होते हैं अर्थात् एक स्थान से स्थानान्तर होते हैं बाकी के द्रव्य क्रियावान नहीं हैं। वे यथास्थान स्थित रहते हैं। इसलिये धर्म अधर्म द्रव्य की सहायता की उन्हें आवश्यकता नहीं है।

शंका–प्रभो ! जीव और पुद्गल द्रव्य क्रियावान किस कारण से होते है ?

समाधान–जबतक द्रव्य कर्मोंका जीव के साथ संयोग सम्बन्ध है तबतक जीव द्रव्य क्रियावान रहता है। जब द्रव्य कर्म का अभाव होता है तब जीवद्रव्य अपने स्वभाव में स्थित अर्थात् निष्क्रियत्व हो जाता है। जीव द्रव्य निष्क्रियत्व होने के बाद में क्रियावान कभी नहीं होता है। पुद्गल द्रव्य काल द्रव्य के निमित्त से क्रियावान होता है परन्तु पुद्गल द्रव्य निष्क्रियत्व कभी नहीं होता है अर्थात् निमित्त पाकर क्रियावान रहता ही है।

प्रश्न–निश्चय और व्यवहार नय का क्या स्वरूप है ?

उत्तर–निश्चय नय दो प्रकार का है। अखंड द्रव्य को अखंड द्रव्य रूप प्रतिपादन करना यही निश्चय नय है और अखण्ड द्रव्य में गुण गुणी एवं गुण पर्यायका भेद पाकर कथन करना वह व्यवहार नय है। जिस द्रव्य की

जो गुण और पर्याय है वही गुण और पर्याय उसी द्रव्य की कहना यह भी निश्चय नय है और संयोगी परद्रव्य की पर्याय को दूसरे द्रव्य की पर्याय कहना उसका नाम भी व्यवहार नय है। जैसे मतिश्रुतज्ञान और राग द्वेष आदि जीव द्रव्य की कहना वह निश्चय नय है और पांच इन्द्रियाँ द्रव्य, मन, शरीर आदि जीव द्रव्य का कहना वह व्यवहार नय है। निश्चय नय और व्यवहार नय दोनों श्रुतज्ञान की पर्याय हैं।

शिष्य—हे प्रभो! छह द्रव्य का स्वरूप संक्षेप में मेरी समझ में आगया है इतना ही नहीं परन्तु मेरी धारणा में भी ठीक २ आगया है। अब कृपाकर सप्त तत्वोंका स्वरूप समझाने का कष्ट करें।

गुरु—हे शिष्य! तत्व सात हैं। (१) जीवतत्व (२) अजीवतत्व (३) आश्रवतत्व (४) बंधतत्व (५) संवरतत्व (६) निर्जरातत्व (७) मोक्षतत्व। यह सब जीव द्रव्य की ही पर्याय हैं।

शिष्य—हे प्रभो! जीव तत्व का क्या स्वरूप है?

गुरु—हे शिष्य! आत्माका जो अनादि अनंत स्वभाव भाव है वही मात्र जीव तत्व है। उसे जीव तत्वका कभी

नाश नहीं होता है यदि उसी जीव तत्व का नाश हो जावे तो आत्म द्रव्य का नाश हो जाता है। मात्र ज्ञायक स्वभाव ही, चैतन्य पिन्ड ही, ज्ञानघन ही, मात्र जीव तत्व है। जिस जीव तत्व में न गुण गुणी भेद है न गुण पर्याय भेद है ऐसी अखण्ड ज्ञान ज्योति परम पारणामिक भाव जीव तत्व है। वह जीव तत्व कैसा है—

जिसमें काला पीला आदि वर्ण नहीं है, जिसमें सुगन्ध दुर्गन्ध नहीं है, जिसमें खट्टा मीठा रस नहीं है, जिसमें शीतोष्णादि स्पर्श नहीं है, जिसमें औदारिक वैक्रियकादि शरीर नहीं है, जिसमें समचतुरसादि संस्थान नहीं है, जिसमें वज्रवृषभनाराचादि संहनन नहीं है, जिसमें प्रीतिरूप राग भाव नहीं है, जिसमें अप्रीतिरूप द्वेष भाव नहीं है, जिसमें यथर्थ तत्व की अप्राप्तिरूप मोह नहीं है, जिसमें मिथ्यात्व कषायादि कारण नहीं है। जिसमें ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य धर्म नहीं हैं जिसमें पौद्गलिक शरीर नहीं हैं। जिसमें कर्म की शक्तिका अविभाग प्रतिच्छेद का समूह रूप वर्ग नहीं है। जिसमें वर्गोंका समूह रूप वर्गणा नहीं है जिसमें भेद तीव्र रस रूप पौद्गलिक कर्मों के समूह करा विशिष्ट वर्गोंकी वर्गणा का स्थान रूप स्पर्द्धक भी नहीं है जिसमें स्वपरका एकपनेका निश्चय आशय होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणाम से जिनका जुदा पना लक्षण है ऐसा

अध्यात्म स्थान भी नहीं हैं। जिसमें पौद्गलिक कर्म प्रकृतियोंका रस रूप अनुभाग स्थान भी नही है। जिसमें मन, वचन, काय, रूप पौद्गलिक योग स्थान भी नहीं है जिसमें पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध स्थान भी नहीं है जिसमें पौद्गलिक कर्मोंका फल रूप उदय स्थान भी नहीं है, जिसमें गति आदि मार्गणा स्थान भी नहीं है, जिसमें पौद्गलिक कर्मोंके साथमें रहने रूप स्थिति बन्ध स्थान भी नही है जिसमें तीव्र कषाय रूप संक्लेश स्थान भी नहीं है, जिसमें मेद कषाय रूप विशुद्धि स्थान भी नहीं है, जिसमें चारित्र मोहके उदयके क्रमसे निवृत्ति रूप संयम लब्धि स्थान भी नहीं है, जिसमें पर्याप्त अपर्याप्त आदि जीव स्थान भी नहीं है, जिसमें मिथ्यात्वादि गुणस्थान भी नहीं है ऐसा मात्र ज्ञानज्योति, चैतन्य पिण्ड परम पारणामिक भाव मात्र जीव तत्व है। जो जीव तत्व मात्र निश्चय नय का ही विषय है। जो जीव तत्व मात्र दर्शन चेतनाका विषय है, जो जीव तत्व मात्र सम्यग्दर्शन का लक्ष ध्येय है। जीव तत्व वही है कि जिसके लक्ष बिन्दु पर जीव मोक्ष तत्वकी उपलब्धि कर सकता है वही जीव तत्व जयवंत हो, जयवंत हो।

वर्णादिक गुणस्थान पर्यंत भाव जो जो हैं वे जीव द्रव्य की अपेक्षासे जीव के हैं ऐसा कहा जाता है, परन्तु

जीव तत्व की अपेक्षासे यह सभी भाव जीव तत्वके नहीं हैं, क्योंकि एक तत्वमें दूसरे तत्वका अभाव है, परन्तु जीव द्रव्य में ये सभी भाव हैं क्योंकि द्रव्य का लक्षण शुद्धा-शुद्ध पर्याय का पिण्ड कहा गया है।

जीव, तत्व है वह चैतन्य है, वह अपने आप अतिशय कर चमत्कार रूप प्रकाशमान है। अनादि है, किसी समय में नया नहीं उत्पन्न होता है। अनंत है जिसका किसी काल में विनाश नहीं है। अचल है, चैतन्य पनेसे अन्य रूप (चलाचल) कभी नहीं होता है। स्वसंवेद्य है आप ही कर जाना जाता है और प्रगट है, छिपा नहीं है।

शंका—जीव तत्व और जीव द्रव्य में क्या भेद है?

समाधान—जीव तत्व मात्र ज्ञायक स्वभाव का नाम है, अर्थात् चैतन्य पिण्ड का नाम है अर्थात् परम पारिणामिक भावका नाम जीव तत्व है और जीव द्रव्य उसको कहते हैं जो अनंत गुण तथा उनगुणों की अनंतानंत शुद्धाशुद्ध पर्याय एवं जीव और पुद्गलकी मिश्रित अवस्था का धारण करने वाले अजीव तत्व का नाम जीव द्रव्य है यह दोनो में भेद है।

प्रश्न—हे प्रभो! अजीव तत्वका क्या स्वरूप है?

उत्तर—जीव द्रव्य के साथ में जो पौद्गलिक संयोगी अवस्था है उसी का नाम अजीव तत्व है। छह पर्याप्ति पौद्गलिक अजीव-तत्व हैं। दश प्राण पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। यह जीव तत्व नहीं है। औदारिक, वैक्रियिक आदि शरीर अजीव-तत्व हैं। समचतुरस्र आदि संस्थान पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। वज्रर्षभनाराच आदि सहनन पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। रूप, गन्ध, रस और स्पर्श पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। ज्ञानावरणादि अष्ट द्रव्य कर्म अजीव तत्व हैं। मन, वचन, काय पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। प्रकृति बन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। पांच इन्द्रियाँ पौद्गलिक अजीव तत्व हैं। स्वासोच्छ्वास पौद्गलिक अजीव तत्व है। इस अजीव तत्व को जीव तत्व मानना मिथ्यात्व भाव है।

अनादि काल से यह जीव, अजीवतत्व को जीवतत्व मानकर दुःखी ही रहा है। यही तो मिथ्यात्व भाव है। आत्मा अरूपी पदार्थ है वह चक्षु इन्द्रिय से देखा नहीं जाता है, और शरीर अजीवतत्व देखने में आता है, इसी कारण जीव इस में ही अर्थात् अजीवतत्व में ही अपना अस्तित्व मान रहा है। शरीर रूपी अजीवतत्व की खुशामद में ही सारा ही दिन निकाल रहा है। शरीर दुबला

हो जावे तो मानता है कि मैं दुबला हो गया, शरीर मोटा होने से मानता है कि मैं मोटा होगया, जिससे आनंद मानता है। शरीर का रंग गौरा होतो मानता है कि मैं सुन्दर हूं, शरीर का रंग काला होने से मानता है कि मै काला हूं। शरीर का चमडा लाल रंगमें से बदलकर यदि सफेद होजावे तो मानता है कि मुझे कोढ निकला है। यद्यपि कोढ में कुछ दर्द नहीं है तो भी मात्र अपनी बनी बनाई कल्पना से मानलेता है कि में अच्छा नहीं लगता हूँ। ऐसी ऐसी जडी मान्यता से जीव महा दुःखी हो रहा है। यही जडी मान्यता ही संसार दुःख की जननी है। मैं साबुन से स्नान करूँ तो शरीर शुद्ध रहे, परन्तु जीव जरा भी विचार करता नहीं है कि सप्तमलीन धातु से भरा हुआ यह शरीर शुद्ध कैसे हो सकेगा? स्नान करके उठते ही भीतर से पसीना आता है, शरीर सुन्दर कहां हुआ? परन्तु विचार करे कब? संसार के सुख से मुख मोडे तब तो विचार करें, क्योंकि संसार का मार्ग और मोक्ष का मार्ग दोनों विपरीत मार्ग हैं। शरीर की चौबीस घंटे खुशामद करते हुए भी शरीर अपनी उसकी भी बात मानता नहीं है, तो भी जीव विचारता नहीं है। जैसे काल पाकर बाल आपसे आप काले से सफेद हो जाते हैं। काल पाकर दांत

आपसे आप टूट जाते हैं गिर जाते हैं। काल पाकर शरीर का चमडा शिथिल होकर झुर्रियाँ पड जाती हैं। यह सभी अवस्थाएँ आत्मा चाहता नहीं है और हो जाती हैं तो भी विचार करता नहीं है कि शरीर की सुन्दरता में मेरी सुन्दरता नहीं है, परन्तु आत्मीय गुणों की सुन्दरता से मेरी सुन्दरता है एवं शान्ति है। यह विचार न होने का मूल कारण मिथ्यात्व भाव अर्थात् जीव तत्व को भूल कर अजीव तत्व को अपना अर्थात् अजीव तत्व में अपना अस्तित्व मानना यही संसार की जननी है। इसलिये संसार से मुक्त चाहना, जीवों को अजीव-तत्व का ज्ञान कराना सर्व प्रथम जरूरी है। अजीव तत्व का ज्ञान नहीं होने से अजीव तत्व की सब क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। मैं बोलता हूँ, मैं चलता हूँ, मैं खाता हूं, इत्यादि जीव और पुद्गल की मिली हुई क्रिया को अपनी क्रिया मानता है। आत्मा की क्रिया आत्मा के प्रदेशों का हलन चलन होना वही मात्र आत्मा की क्रिया है जिस क्रिया में शरीर मात्र निमित्त है, और शरीर की हलन चलन क्रिया पौद्गलिक क्रिया है, वह आत्मा की क्रिया नहीं है, परन्तु क्रिया में जीव तो मात्र निमित्त है। निमित्त नैमित्तिक अवस्थाका ज्ञान नहीं होने के कारण जीव की क्रिया को तो

जानता ही नहीं है और पौद्गलिक शरीर की क्रिया को अपनी क्रिया मानकर दुःखी हो रहा है। शरीर में से समय समय में अनंत पुद्गल परमाणु निकलते हैं और अनंत आते हैं यह सब क्रिया आत्माकी इच्छा से नहीं होती है सहज होती है तो भी मिथ्यात्व के कारण जीव मानता है कि मैं शरीर को चलाता हूं, मेरे बिना शरीर चल नहीं सकता, यह तो मात्र मिथ्या कल्पना है। जब शरीर में लकवा लगता है तब जीव शरीर में तो है तब शरीर को क्यों नहीं चलाता है ? विचार तो कर अब शरीर क्यों नहीं चलता है ? शरीर को चलाना जीव का कार्य नहीं है। संसार अवस्था में तादात्म्य सम्बन्ध से देखा जावे तो जीव उपयोग और योग दो ही कार्य कर सकता है। उपयोग का अर्थ पुन्य-पाप भाव तथा वीतराग भाव और योग का अर्थ आत्मा के प्रदेशों का स्पर्श सस्पन्द अर्थात् हलन चलन होगा ये दो कार्य छोड़कर जीव तीसरा कार्य कभी भी कर नहीं सकता है। ये दोनों ही आत्मा की अवस्था हैं, और यह दोनों अवस्था को जीव की अवस्था मानना सम्यक् ज्ञान है, और शरीर की अवस्था को आत्माकी अवस्था मानना मिथ्या ज्ञान है।

शंका—अजीव तत्व और अजीव द्रव्य में क्या भेद है ?

समाधान—जीव द्रव्य के साथ में संयोग सम्बन्ध से पौद्गलिक रचना रहे उसीका नाम तो अजीव तत्व है क्योंकि संसारी अवस्था में वही जीव द्रव्य की अवस्था हो जाती है जिस अवस्था के साथ में जीव का जन्म मरण का सम्बन्ध है और जिसके साथ जीवका संयोग सम्बन्ध नहीं है ऐसे पौद्गलिक पदार्थ अजीव द्रव्य हैं यह दोनों में भेद है।—

आश्रव तत्व—आश्रव दो प्रकारका होता है। १—चेतन आश्रव २—जड आश्रव। जिसको शास्त्रीय भाषामें भावाश्रव और द्रव्याश्रव कहते है।

चेतनाश्रव—जिस प्रकार आममें रस, रूप, गन्ध और स्पर्श नामके गुण हैं उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान दर्शन चारित्र, सुख, क्रिया, श्रद्धा, अवगाहना, अव्याबाध, सूक्ष्मत्व अगुरुलघु, निष्क्रियत्व, और योग आदि अनेक गुण हैं। जैसे आम में रस, रूप, गन्ध, स्पर्श आदि गुण स्वतंत्र परिणमन करते हैं ऐसे ही आत्मा में सब गुण स्वतंत्र परिणमन करते हैं। कोई भी गुण किसी भी गुणके आधीन नहीं है। जैसे स्पर्श गुण की शीत, उष्ण अवस्था बदलती है, ऐसे ही आत्मा के गुणोंकी अवस्था बदलती

है। जब आत्मा पौद्गलिक द्रव्य कर्मों के आधीन होकर अवस्था बदलता है उसी अवस्थाका नाम आत्माकी वैभाविक अवस्था है, और जब आत्माके गुण आत्म द्रव्य के ही आधीन होकर अवस्था धारण करते हैं उसी अवस्थाका नाम स्वाभाविक अवस्था है। आत्मामें योग नामके गुणकी भी दो अवस्था होती है। जब तक योग नामका गुण पौद्गलिक द्रव्यकर्म के आधीन अवस्था धारण करता है तब तक उस गुण की कम्पन अवस्था रहती है, इसी कम्पन अवस्थाका नाम चेतनाश्रव है और जब योग गुण पौद्गलिक द्रव्य कर्म के आधीनपना छोड, आत्म द्रव्यके आधीन होकर अवस्था धारण करता है उस समय योग नाम के गुण की अकंप अवस्था रहती है, उस अकम्प अवस्थाका नाम आश्रव रहित शुद्ध स्वाभाविक अवस्था है। योग नामके गुणकी वैभाविक अवस्था (१३) तेरहवों गुणस्थानके अंत तक रहती है, अर्थात् आश्रव तेरहवें गुणस्थान तक रहता है, अर्थात तेरहवें गुणस्थान तक योग नामके गुणकी कम्पन रूप अवस्था रहती है, और चौदहवें गुणस्थानके पहले समयमें योग नामके गुणकी अकम्प रूप अवस्था होजाती है अर्थात् चौदहवें गुण-स्थानके पहले समयमें योग नामके गुणकी शुद्ध स्वाभाविक अवस्था होती है।

आगममें आश्रव के (५७) सत्तावन भेद अर्थात् कारण दिखाये हैं वे आश्रव नहीं है परन्तु आश्रव होने में कारण हैं। चेतन आश्रवमें जो कारण पडते हैं उन्हें निमित्त कहते हैं। जैसे रोटी नियमसे आटे की ही बनेगी, परन्तु रोटी बनाने में सिगडी, कोयला, अग्नि, बेलन, चकला, जल आदि सामग्री की आवश्यक्ता पडती है इन सबको निमित्त कहते हैं। निमित्तका कोई भी अंश रोटी में नहीं जाता है, रोटी तो नियमसे आटे की ही बनेगी तो भी निमित्त विना बनती नहीं है। ऐसे ही आत्माके आश्रव होने में पौद्गलिक मन वचन काय आदि कारण पडते हैं, लेकिन इन सबके कारण में कार्यका उपचार करके निमित्त की अपेक्षासे आश्रव कहा जाता है, परन्तु यथार्थ में वह आश्रव नहीं है, निमित्तको आश्रव कहना वह तो मात्र शाब्दिक व्यवहार है। जैसे व्यवहारमें बालक लकडी को घोडा कहते हैं, परन्तु यथार्थ में लकडी घोडा नहीं है, यद्यपि लकड़ी को व्यवहार में घोडा बोला जाता है तो भी ज्ञान यथार्थ ही होता है, उसी प्रकार धर्म मार्ग में उपचार से कहने का व्यवहार है कि, आश्रव बहुत प्रकार का होता है, परन्तु श्रद्धान इतना ही करना कि, आश्रव बहुत प्रकार का नहीं होता है, मात्र एक होता है, जोकि योग नाम के गुण की कम्पन अवस्था है वही आश्रव है।

जडाश्रव—लोक में पुद्गल वर्गणा अनेक प्रकार की है, उसमें एक वर्गणा ऐसी है जिसको कार्माण वर्गणा कहते हैं। उस कार्माण वर्गणा का आत्मा के प्रदेशों के समीप कर्म रूप अवस्था बनने को आना उसीका नाम जड आश्रव है।

बन्धतत्व—बन्धतत्व दो प्रकार का है। (१) चेतन-बन्ध (२) जड बन्ध, जिसको शास्त्रीय भाषामें भावबन्ध और द्रव्य बन्ध कहते हैं।

चेतनबन्ध—आत्मा में अनंत गुण हैं तो भी आत्मा के श्रद्धागुण चारित्र-गुण और योग गुण की विकारी अवस्था का नाम चेतन बन्ध है। श्रद्धागुण की विकारी अवस्था का नाम मिथ्यात्व है। चारित्र-गुणकी विकारी अवस्था का नाम कषाय है और योग-गुण की विकारी अवस्था नाम कंपन हैं, इन तीन गुणों की विकारी अवस्था का नाम बंध है।

मिथ्यात्व—मिथ्यात्वका सेवन यह जीव अनादि काल से कर रहा है। मिथ्यात्व का सेवन करने के पांच कारण प्रधान हैं। (१) एकान्त मिथ्यात्व (२) अज्ञान

मिथ्यात्व (३) विपरीत मिथ्यात्व (४) विनयिक मिथ्यात्व (५) संशय मिथ्यात्व

प्रश्न—एकान्त मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—एकान्त मिथ्यात्व में जीव पदार्थ को सत् असत्, एक अनेक, नित्य अनित्य इत्यादि एकान्त मान्यतासे जीव मिथ्या दृष्टि रहता है क्योंकि पदार्थ का अनेकान्त अर्थात् अनंत धर्मात्मक है इसका उसे ज्ञान नहीं है।

प्रश्न—अज्ञान मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अज्ञान मिथ्यात्व में नित्यानित्य विकल्पों से विचारने पर जीवाजीवादि पदार्थ नहीं है, अतएव सब अज्ञान ही हैं ज्ञान नहीं है ऐसे अभिप्राय का नाम अज्ञान मिथ्यात्व है।

प्रश्न—विपरीत मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—विपरीत मिथ्यात्व में हिंसा-जुंआ, चौर्य, मैथुन, परिग्रह, राग-द्वेप मोह-अज्ञान इनसे ही मुक्ति होती है, ऐसी मान्यता का नाम विपरीत मिथ्यात्व है।

प्रश्न—विनयिक मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—विनयिक मिथ्यात्व में लौकिक तथा परलौकिक सुख सभी विनय से ही प्राप्त होते हैं न कि ज्ञान-दर्शन चारित्र, उपवास आदि क्लेशों से ऐसी मान्यता का नाम विनयिक मिथ्यात्व है। विनयिक मिथ्यात्व में जीव राग में भक्ति करता है, जो पत्थर हो इसेही देव मानता है परन्तु गुण में भक्ति नहीं करना है।

प्रश्न—संशय मिथ्यात्व का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—संशय मिथ्यात्व में सर्वत्र ही संदेह है, निश्चय नहीं हैं ऐसी मान्यता का नाम संशय मिथ्यात्व है।

पुन्य भाव में धर्म बुद्धि करना यह मिथ्यात्व है। अनादि काल से यह जीव पुन्य भाव में ही धर्म मान रहा है। पुन्य भाव जो बन्धन का ही कारण है उस भाव से धर्म की प्राप्ति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति कैसे मिल सकती है। जैसे कांदा (प्याज) खाते खाते अमृत की डकार चाहता है, वह कैसे मिल सकती है ? कभी भी नहीं मिल सकती है। भक्ति भाव पुन्य भाव है ऐसे भक्ति भाव से मोक्ष की कल्पना करना मिथ्यात्व ही है।

शंका—पुन्य भावकी परंपरा मोक्ष का कारण तो शास्त्र में माना है !

समाधान—पुन्य भाव की परंपरा मोक्ष का कारण कहा है इसका आप परमार्थ अर्थ न समझे हो।

शंका—इसका परमार्थ अर्थ क्या है?

समाधान—जैसे पाप छोड़ते छोड़ते पुन्य भाव होता है, ऐसे ही पुन्य भाव छोड़ते छोड़ते धर्म भाव होता है, परन्तु पुन्य भाव करते करते धर्म भाव होता नहीं ऐसे परंपरा का अर्थ करना चाहिये। कारण दो प्रकार का होता है। (१) सद्भाव कारण (२) अभाव कारण। जैसे ज्वर का सद्भाव वह निरोगता का कारण नहीं है, परन्तु ज्वर का अभाव निरोगता का कारण है, इसी प्रकार पुन्य भाव रूप ज्वर निरोगता रूप मोक्ष का कारण नहीं है, परन्तु पुन्य भाव रूप ज्वर का अभाव मोक्ष का कारण है।

पौद्गलिक द्रव्य कर्म के फलमें मिली हुई देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी रूप संयोगी पर्याय को यह आत्मा अज्ञान के कारण अपनी अवस्था मान रहा है यही मिथ्यात्व भाव है। मैं बालक हूं, स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूं, मैं देव हूं, मैं देवांगना हूँ, मैं तिर्यंच हूं, मैं नारकी हूं इत्यादि जो जो पौद्गलिक संयोगी अवस्था मिली है, इसी को आत्मा मान रहा है परन्तु मैं ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं, मैं मनु-

त्यादि नहीं हूं ऐसी मान्यता होती ही नहीं हैं । इसी कारण शराबी पागलमनुष्य के माफिक बोलता है कि मैं दुबला हूँ. मैं मोटा हूँ, मैं काला हूँ, मैं गोरा हूँ इत्यादि मान कर दुखी होता है यही मिथ्यात्व भाव है इसी का नाम पर्याय मूढ जीव है ।

मैं पर जीवको मार सकता हूँ, मैं पर जीवको बचा सकता हूं, मैं पर जीवको सुखी दुःखी कर सकता हूं, एवं पर जीव मुझको मार सकता है, पर जीव मुझको बचा-सकता है, पर जीव मुझको सुखी दुःखी कर सकता है इस प्रकार जो जो विकल्प करता है वे मिथ्यात्व भाव हैं, क्योंकि सब जीव अपने आयु कर्म के नाशसे मरते हैं, सब जीव अपनी आयु कर्म के उदय से ही जीवित रहते हैं। कोई भी जीव किसी भी जीवको आयु नहीं दे सकता है । कोई भी जीव किसी भी जीव की आयु नहीं लूट सकता है। आयु पूरी हो जावे तो तीर्थंकर देव में भी शक्ति नहीं है कि पर जीव को बचा सके। यदि जीव की आयु बाकी है तो इन्द्र की ताकत नहीं है कि वह पर जीवको मार सके। इसी प्रकार सब जीवों को सुख या दुःख का सयोग अपने २ साता असाता कर्म के उदयसे ही मिलता है। पाप के उदय आने से चाहे जितनी संभाल रखे तो भी

बाह्य सामग्री का नियम से वियोग होगा और पुन्य के उदय होने मात्र से ही बाह्य सामग्री मिल सकती है इस प्रकार की श्रद्धा न होने के कारण जीव मिथ्यादृष्टि बना रहता है।

देव मेरा कल्याण कर सकता है। गुरु की कृपा हो जावे तो मेरा कल्याण हो जावे यह सब मिथ्यात्व भाव हैं। देव गुरु कोई भी पर जीवों का कल्याण नही कर सकता है तो किसी देव गुरु और धर्म की श्रद्धा किये बिना कल्याण होता भी नहीं है। अपना कल्याण तो अपने से ही होता है, पर जीव अपना कल्याण कर देवे ऐसी धारणा मिथ्यात्व की ही है। महावीर धन देता है, पुत्रादि देता है इस भावना से महावीरजी जाना यह सब मिथ्यात्व भाव हैं। शिखरजी से अनंत जीव मुक्ति में पधारे हैं इसी कारण शिखरजी का कंकर कंकर पवित्र है ऐसी भावना मिथ्यात्व की है। शिखरजी पूज्य नहीं है वह तो पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय जीव है वह कैसे पूज्य हो सकता है, परन्तु शिखरजी से जो मुनि महाराज मोक्ष पधारे हैं उन मुनि महाराजों के गुणों की पूजा की जाती है जिसका मात्र आरोप शिखरजी में उपचार से दिया जाता है। जैसे समवशरण में श्री तीर्थंकर देव विराजमान हैं इसी कारण

समवशरण की महिमा है, परन्तु तीर्थंकर देव बिना मात्र समवशरण की महिमा नहीं है ऐसा समवशरण तो देव भी माया से बना सकता है। तीर्थंकर देवकी महिमा न आवे और मात्र समव-शरण की महिमा मानना मिथ्यात्व भाव है। तीर्थंकर देव के गुणों की जय ध्यान में न आवे और मात्र समवशरण की जय बोलना वह तो मिथ्यात्व भाव है। हलवे की कढाई की महिमा नहीं है महिमा तो कढाई में जो हलवा है उसी की है परन्तु कढाई की महिमा आती है वह मिथ्यात्व भाव है। देव गुरु शास्त्र हमारा कल्याण कभी भी नहीं कर सकते हैं। श्री जिनेन्द्र देव का तो फरमान है कि मेरी सेवा करना छोडकर जो मार्ग दिखाया है उस पर चलो। परन्तु हम स्वयं उसी मोक्ष मार्ग पर चलें नहीं तो जिनेन्द्र देवों में भी शक्ति नहीं हैं कि वह पर जीवोंका कल्याण कर सके ऐसी धारणा न होवे तब तक जीव मिथ्यादृष्टि ही है।

पर पदार्थ को अच्छा बुरा मानना मिथ्यात्व भाव है क्योंकि संसार के कोई पदार्थ अच्छे बुरे नहीं हैं, मात्र जीव अपनी निजकी बनाई हुई कल्पना से पर पदार्थ में अच्छा बुरा की कल्पना कर दुःखी हो रहा है। जिस पदार्थ को आज अच्छा मानते हो उसी पदार्थ को जीव कल

खराब मानता है। जिस विष्टाको आप खराब मानते हैं उसी विष्टा को सूकर प्रेम से खाता है। जिस गाली को आप खराब मानते हैं, उस गाली को सुसराल में आप प्रेम से सुनते हो। जिस देवकी मूर्ति को आप अच्छी मानते हो उसी मूर्तिका अन्य जीव खण्डन करता है, इससे सिद्ध हुआ कि संसार में कोई भी पदार्थ अच्छा बुरा नहीं है तो भी जीव इसमें अच्छे बुरे की कल्पना करता है यही सब मिथ्यात्व भाव हैं।

कषाय—आत्माको कसे उसीका नाम कषाय है। अर्थात आत्माको दुखमें डाले उसीका नाम कषाय है। कषाय के भेद असंख्यात लोक प्रमाण हैं तो भी उसीको (१३) तेरह भेद में गर्भित किया गया है। (१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ (५) हास्य (६) रति (७) अरति (८) भय (९) शोक (१०) जुगप्सा (ग्लानि) (११) स्त्रीके साथ रमण करनेका भाव जिसको पुरुष वेद कहते हैं (१२) स्त्री वेद (पुरुष के साथ रमण करने का भाव)। (१३) नपुंसकवेद (स्त्री पुरुष दोनों का साथ रमण करनेका भाव) इस प्रकार तेरह प्रकारकी कषाय हैं। यह सब भाव आत्माको दुख देने वाले हैं। इन्हीं भावोंका त्याग करना उसीका नाम प्रत्याख्यान है। कषाय चार प्रकारकी कही

जाती हैं। (१) अनन्तानुबंधी कषाय (२) अप्रत्याख्यान कषाय (३) प्रत्याख्यान कषाय (४) संज्वलन कषाय। तीव्र कषायका नाम अनन्तानुबंधी, मन्द कषायका नाम अप्रत्याख्यान, मंदतर कषायका नाम प्रत्याख्यान और मंदतम कषायका नाम संज्वलन ऐसे बहुत जीव मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता मिथ्यात्व सहित है। अनन्तानुबन्धी कषायमें भी परम शुक्ल लेश्या होती है और संज्वलन कषाय में पीतादि लेश्या होती है और अप्रत्याख्यान कषाय में भी परम कृष्ण लेश्या होती है इससे सिद्ध होता है कि कषाय की तीव्रताकी अपेक्षा ये चारों ही कषाय के भेद नहीं हैं, परन्तु पर पदार्थों में सुखकी कल्पना करावे और आत्म के कल्याणकी ओर रुचि न होने दे अर्थात स्वरूपाचरण चारित्र न होने दे ऐसी कषाय का नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। पर पदार्थों में से रुचि हटकर आत्मामें रुचि हुई है परन्तु एक देश चारित्र रूप कषाय जोडनेका भाव न होने दे ऐसी कषायका नाम अप्रत्याख्यान कषाय है। एक देश त्याग करने देवे परन्तु सकल संयम न होने देवे ऐसी कषाय का नाम प्रत्याख्यान कषाय है। सकल संयम होने देवे परन्तु संपूर्ण वीतराग भाव न होने देवें ऐसी कषाय का नाम संज्वलन कषाय है। अर्थात वीतराग भाव के घात की अपेक्षाये चारों ही कषाय हैं।

अनन्तानुबंधी कषाय—अनन्तानुबंधी कषाय वाला जीव पर पदार्थों में ही सुख है ऐसी कल्पना कर उसी को इकट्ठे करने में ही अपने पुरुषार्थ को लगाता है एवं अनिष्ट सामग्री दुःखका कारण है ऐसी कल्पना से उन्ही पदार्थों को दूर करने के लिये पुरुषार्थ कर रहा है। संसार के कोई भी पर पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं है ऐसा ज्ञान उस जीवको नहीं होने से पर पदार्थों से इष्टानिष्ट कल्पना कर दुःखी हो रहा है। जिसने एक पर-पदार्थ में इष्ट बुद्धि करी ऐसे जीवने अनंत पर-पदार्थ होने से अव्यक्त रूप में अनंत पर-पदार्थों में इष्ट बुद्धि करी ही है ऐसी कषाय का नाम अनन्तानुबंधी लोभ है। जिसने एक पर पदार्थ में अनिष्ट कल्पना की है ऐसे जीवने अनन्त पर-पदार्थों होने के कारण अव्यक्त रूप से अनंत पर-पदार्थों में अनिष्ट कल्पना की ही है ऐसी कल्पना का नाम अनन्तानुबंधी क्रोध है। अनन्तानुबंधी कषाय वाला जीव व्यवहार से देव गुरु और व्यवहार धर्म की श्रद्धा करता है। श्रावक मुनि का व्यवहार आचरण जैसा जिनेन्द्र देवने कहा है ऐसा ही पालन करता है परन्तु तो भी अव्यक्त में पर-पदार्थ को इष्टानिष्ट नियम से मान रहा है। जिसमें व्यवहार चारित्र का पालन करता है उसमें ही अपना वह कल्याण समझता है परन्तु वही

चारित्र मात्र संसार सुखका कारण है ऐसी उसकी मान्यता होती ही नहीं है। ऐसी वह कषाय मन्द करता है कि घानी में पीस डाले तो भी मुखसे आवाज भी न निकाले। शरीर का चमडा उखाड कर नमक छोडे तो भी दुश्मन पर क्रोध नहीं करता है। ऐसी बाह्य में प्रवृत्ति होते हुए भी आत्मा का ज्ञान नहीं होने से मिथ्यादृष्टि ही रहता है। अनन्तानुबंधी कषाय वाला जीव ग्यारह अंग और नौ पूर्व तक का ज्ञान प्राप्त कर लेता है परन्तु आत्मानुभव न होने के कारण उस को व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा जाता है ऐसे व्यवहार सम्यग्दृष्टि की वाणी सुनकर अन्य जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है। ऐसा व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर मुनि की अवस्था धारण कर आगमानुकूल २८ (अठाईस) मूलगुण का पालन करता है। बाईस परिषहको आगमानुकूल जीतता है। देव, मनुष्य तिर्यंच द्वारा आए उपसर्ग को यथार्थ सहन करता हैं रति मात्र कषाय नहीं करता है तो भी अभ्यंतर में सूक्ष्म मिथ्यात्व रूप भाव रह जाता है। जिस का भाव उसके ज्ञान में नहीं आता है वही सूक्ष्म मिथ्यात्व का भाव मात्र केवल ज्ञान गम्य है जिस कारण से ऐसे महान तपस्वी मुनि को द्रव्यलिंगी मुनी कहा जाता है। कैसा है वह

द्रव्यलिंगी मुनी शीतकाल में नदी के तट पर आसन लगाकर बैठकर ध्यान मुद्रा में स्थित रहता है। उष्णकाल में पर्वत के शिखर पर मध्याह्न में कायोत्सर्ग का आतापन करता है। वर्षा ऋतु में पेड के नीचे बैठकर ध्यान करता है। साधारण जीवों की शक्ति नहीं है कि वह पहचान जावे कि यह द्रव्य लिंगी है ऐसी महान तपस्याका करने वाला है। परन्तु जो मुनि २८ (अठाईस) मूल गुण यथार्थ पालन करता नहीं हैं। पांच इन्द्रिय के विषय से जीता गया है, शीत काल में शीतका परिसह जीतने की शक्ति नहीं होने से एक बैलगाड़ी जितना घास ओढता है बाह्य में नग्न होने वाले ऐसे मुनि को द्रव्य लिंगी न कहा है मात्र वेषधारी कहा है। ऐसी अवस्था अनन्तानुबंधी कषाय में भी हो सकती है अनन्तानुबंधी कषाय में भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते हैं। सप्तम नरक के नारकी के भी अनन्तानुबंधी कषाय होती है और नोवें ग्रेवेयक के अहमिन्द्र देव को भी अनन्तानुबंधी कषाय हो सकती है तो भी दोनों जीवों में कषाय की तारतम्यता में महान अन्तर है इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय में भेद जानना।

अप्रत्याख्यान कषाय—अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीव में नियम से उपसम सम्यग्दर्शन, क्षयोपशम सम्यग्दर्शन

और क्षायक सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जाती है जिस कारण से उसीको अव्रती सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इस कपाय वाले जीवका चतुर्थ गुणस्थान होता है। इस कपाय में असंख्यात लोक प्रमाण भेद होता है। अप्रत्याख्यान कपाय वाले जीवमें उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या एवं परम शुक्ल लेश्या रूप के भाव होते हैं। इस कपाय वाले जीवमें पर पदार्थों में इष्टानिष्टकी श्रद्धा नहीं है परन्तु इसकी यह श्रद्धा है कि संसार के कोई भी पदार्थ सुख दुःख के कारण नहीं हैं परन्तु मेरा ही राग भाव दुःखका कारण है और मेरा ही वीतराग भाव मात्र सुखका कारण है। ऐसी श्रद्धा निरंतर कार्य करती ही है। अप्रत्याख्यान कपाय वाला जीव बुद्धि पूर्वक त्रस स्थावर जीवोंके मारने के भावका त्याग नहीं कर सकता है जिस कारण उसको अव्रती सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। अप्रत्याख्यान कपाय वाले जीव के, शूद्र के हाथका जल पीनेका भाव, बाजारकी मिठाई आदि खानेका भाव, विलायती दवा औषधि आदि खानेका भाव, नल (टोंटी) के जल पीनेका भाव को संपूर्ण रीति से त्याग नहीं कर सकता है परन्तु मद्य, मांस मधु और पंच उदम्बरादि फलों को जिनमें साक्षात त्रस देखने में आते हैं ऐसे पदार्थोंका संपूर्ण रीत से त्याग कर देता है। अप्रत्याख्यान

कषाय वाले जीवसे संकल्पी हिंसा होजाती है-जैसे विभीषणने निरपराधी दशरथ राजा तथा जनक राजा पर अपने बन्धु रावण के प्रति रागके कारण शस्त्र चलाकर घात किया। ऐसे घात करनेका भाव संकल्पी हिंसा है। जैसे भरत महाराजा तीन लडाइयों में अपने लघु भ्राता बाहुबली से हारगये तब कषायके आवेशमें अपने निरपराधी भाई बाहुबली पर चक्र चलादिया यह संकल्पी हिंसा का भाव है। अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीवों के श्रद्धाकी अपेक्षा सप्त प्रकारका भय नहीं है क्योंकि वे जानते हैं कि द्रव्य सत् रूप है अर्थात जिसका तीन कालमें नाश नहीं होता है परन्तु उसका चारित्रमें भय नियमसे है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव सप्त व्यसनका संपूर्ण रीति से त्याग नहीं कर सकता हैं जैसे युधिष्ठिर महाराजने जुंआ खेला। अप्रत्याख्यान कषाय वाले जीव से मायाचारीका भी सेवन होजाता है जैसे श्रीरामचन्द्रजी ने सीताजी को कहाकि आप तीर्थक्षेत्र के दर्शन के लिये पधारो और इस आड में सीताजी को एकाकी जंगल में छोड देनेका आदेश अपने सेनापतिको दिया यह भाव मायाचारी का ही है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव अष्ट मूलगुणों को अतिचार सहित पालन करता है परन्तु अतिचार रहित पालन नहीं

कर सकता है। अप्रत्याख्यान कषाय वाले नारकी जीवों में तो विशेष कर संकल्पी हिंसा होती है।

अनन्तानुबन्धी कषाय में जिस जीवने मनुष्य तिर्यंच और नरकायु बांधली है, बाद में अनन्तानुबन्धी कषायका अभावकर अप्रत्याख्यान रूप कषाय है तो वह जीव नियम से भोगभूमि में ही जावेगा परन्तु विदेह क्षेत्रमें सीधा नहीं जाता है क्योंकि विदेह क्षेत्रमें सीधा अनन्तानुबंधी कषाय वाला ही जीव जन्म लेता है। अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव पहले नरकसे आगेके नरकमें जन्म नहीं लेता है।

अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव, भवनवासी, व्यंतर ज्योतिष्क देव तथा दूसरी नरक पृथ्वी से सप्तम नरक पृथ्वी में, सर्व विकलेन्द्रिय में और स्त्री वेदों में नियम से जन्म नहीं लेता है।

अप्रत्याख्यान कषाय में बिना छाना जल एवं रात्रिमें चारों प्रकार के आहार लेनेका भाव हो सकता है।

प्रत्याख्यान कषाय—प्रत्याख्यान कषाय वाला जीव अष्टमूल गुणों को नियम से अतिचार रहित पालन करता है तथा सप्त व्यसनका त्याग संपूर्ण रीति से करता है तथा जल बिना छाने कभी भी पीनेका भाव नहीं होता है। रात्रि

में चार प्रकारके आहार खानेका भाव होता ही नहीं है। प्रत्याख्यान कषाय में नियम से संकल्पी हिंसा का त्याग हो जाता है परन्तु स्थावर जीवों की विवेक पूर्वक हिंसा हो जाती है। इस कषाय के तीव्रोदय में त्रस जीवों की आरंभी उद्योगिनी और विरोधी हिंसा होजाती है। प्रत्याख्यान कषाय के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं तो भी उसके ग्यारह भेदों में समास किया जाता है, जिस भेदके नाम को प्रतिमा कही जाती है। १—दर्शन प्रतिमा २—व्रत प्रतिमा ३—सामायिक प्रतिमा ४—पोषध प्रतिमा ५—सचित्त भक्षण त्याग प्रतिमा ६—रात्रि भुक्ति अनुमोदना त्याग प्रतिमा पुरुषों के लिये, और स्त्री के लिये दिवस मैथुन सेवन त्याग प्रतिमा ७—ब्रह्मचर्य प्रतिमा ८—आरंभ त्याग प्रतिमा ९—परिग्रह त्याग प्रतिमा १०—अनुमति त्याग प्रतिमा ११—उच्छिष्टाहार त्याग प्रतिमा। प्रथम प्रतिमाधारी के जितना संवर होता है इतनाही संवर ग्यारहवीं प्रतिमा धारी के होता है संवर में भेद नहीं है परन्तु निर्जरा में महान भेद है। पहली प्रतिमा से छठी प्रतिमा तक जघन्य पद है। सप्तम प्रतिमा से नौ वीं प्रतिमा तक मध्यम भेद है और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावका का उत्कृष्ट भेद है।

दर्शन प्रतिमा

प्रश्न—दर्शन प्रतिमा का क्या स्वरूप है ?

उत्तर—अप्रत्याख्यान कषाय वाला जीव, श्रावक के आठ मूलगुणों को अतिचार सहित पालन करता है परन्तु जब प्रत्याख्यान कषाय रूप भाव होता है तब वह अष्ट मूल-गुणों को अतिचार रहित पालन करता है। इस कषाय में अमर्यादित एवं स्थावर अभक्ष्य पदार्थ खाने का भाव होता ही नहीं है। इस कषाय में बाजारू शक्कर बूरा भी खाने का भाव होता ही नहीं है। बिना जामन से जमाया हुवा दही में से अष्ट पहर बनाया घृत मात्र लेने का भाव होता है परन्तु विशेष दिन का जमाया हुआ दही में से निकाला घृत लेने का भाव होता ही नहीं है।

शंका—अभक्ष्य अर्थात् अमर्यादित पदार्थ का क्या स्वरूप है ?

समाधान—अभक्ष्य पदार्थ दो प्रकार है। (१) स्थावर अभक्ष्य (२) त्रस अभक्ष्य। इन दोनों अभक्षों में महान अंतर है। जिस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग देव और स्वर्ग के देवों में अन्तर है इतना ही अन्तर इन दोनों प्रकार के अभक्ष्यों में है।

शंका—स्थावर अभक्ष्य किसे कहते हैं ?

समाधान—जिस बनस्पति में अनन्त जीव राशी हैं अर्थात् जिसको साधारण जीव-राशी अर्थात् निगोद जीव राशी कही जाती है-जैसे कंद मूलादि एवं जो बनस्पति खाने से अपने शरीर में बाधा आने की शंका है ऐसी वनस्पति-जैसे अजानफल, बहुबीजाफल, जिसमें नशा उत्पन्न करने की शक्ति है चीरफल, भांग, अफीम आदि नशाके पदार्थ सब अभक्ष्य पदार्थ हैं ऐसे पदार्थ खाने का भाव उदासीन श्रावक नहीं करता है ?

शंका—त्रस अभक्ष्य किसको कहते हैं ?

समाधान—जिसमें प्रत्यक्ष त्रस जीव देखने में न आवे परन्तु आगम प्रमाण हैं ऐसे पदार्थ एवं जिसमें त्रस जीव की काय हो ऐसे सब पदार्थ अभक्ष्य कहे जाते हैं। जैसेः—

कच्चे जल को छानने के बाद उसमें दो घडी तक त्रस की उत्पत्ति नहीं होती है ऐसा जल दो घडी बाद अभक्ष्य है। कच्चे जलको साधारण तप्त करले अथवा लौंग, सौंफ आदि मशालों से उसका रंग बदला जावे तो वह जल छ घंटा अर्थात् दो पहर बाद अभक्ष्य है। जो जल छानने के बाद बहुत ही उबाला जावे ऐसा जल अष्ट पहर बाद

अभक्ष्य है। जल की चार पहर की मर्यादा नहीं होती है।

अघहन वदी १ से फाल्गुण सुदी १५ तक आटा एवं धनिया, मिर्च आदि पिसे हुए मसाले की मर्यादा सात दिन की है। चैत्र वदी १ से आषाढ शुक्ला १५ (पूनम) तक आटादि की मर्यादा ५ पांच दिन की है। श्रावण वदी १ से कार्तिक शुक्ला १५ (पूनम) तक आटादि की मर्यादा तीन ३ दिन की है इसके बाद वह पदार्थ अभक्ष्य है।

रोटी, दाल, खिचडी, भात, तरकारी आदि की मर्यादा दो पहर की अर्थात् छह घंटे की है। पुडी, भुजिया, पूवा, परांवठा आदि की मर्यादा चार पहर की है। कठोर (पोसरी) पुडी सेव आदि जिसको खाते समय दाल की साथ आवाज हो ऐसे नमकीन की मर्यादा २४ घंटे की है। जिस मिठाई में जल या दूध हो ऐसी मिठाई की मर्यादा २४ घंटे अर्थात् अष्ट पहर की है। जिस मिठाई में जल एवं दूध नहीं है मात्र घृत, शक्कर शुद्ध एवं आटा ही हो ऐसी मिठाई की मर्यादा आटे की तरह ७-५-३ दिन की है।

बाजारू मील की शक्कर या गुड तो अभक्ष ही है परन्तु सांठे में से रस अपनी आंख के सामने निकाल कर उसी को छानकर उसी का गुड या शक्कर लकडी या कोयला

जलाकर बनाया जावे तो वह शकर या गुड शुद्ध है उसकी मर्यादा जब तक रस चलित न होजावे तब तक की है।

पापड, आचार आदि की मर्यादा २४ घंटेकी अर्थात् अष्ट पहरकी है।

गाय, भैंस बकरी आदि के थन शुद्ध जलसे धुलाई करने के बाद आंख के सामने निकाले हुए दूध को तुरन्त छानकर दो घडी के भीतर गरम किये हुए दूधकी मर्यादा २४ घंटेकी है। ऐसे दूधको बिना जामन से जमाये हुए दही की मर्यादा जिस दिन दूध जमाया है उसके दूसरे दिन तक मात्र की है। ऐसे दहीकी बनाई हुई छाछकी मर्यादा १२ घंटे की है। ऐसी छाछ में से निकाले हुए मक्खन (लोनी) को तुरन्त तपाकर बनाये हुए घृत को उदासीन श्रावक लेता है ऐसे घृतकी मर्यादा जब तक उसकी गन्ध रूपादि न बदल जावे तब तक ही है।

दरिया के पानीका बना हुवा नमक अभक्ष्य है मात्र सैंधा नमक उदासीन श्रावक लेते हैं।

घानी (कोल्हू) को प्रासुक जलसे धुलाई किये बाद तिलादिक को शोधकर अपना प्रासुक जलके किये हुए व्यवहार से निकाला हुआ तेल भक्ष्य है (बाजारू तेल अभक्ष्य है) ऐसे तेलका रूप रसादि बदल जावे तो वह अभक्ष्य हो जाता है।

इसी प्रकार विलायती दवा एवं देशी अमर्यादित औषधि एवं आहारादि खानेका भाव प्रत्याख्यान कषाय वाले जीवों में होता ही नहीं है, क्योंकि अप्रत्याख्यान नामकी कषाय के अभाव में वही जीव महान उदासीन बन जाता है।

दूसरी व्रत प्रतिमा

प्रश्न—व्रत प्रतिमाका क्या स्वरूप है ?

उत्तर—जो उदासीन श्रावक पांच अणुव्रत धारक होवे, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत सहित होवे, वह व्रती श्रावक है। कैसा है वह व्रती-श्रावक ? दृढचित्तवान है जो पाप भाव से भयभीत है।

अहिंसाणुव्रतका स्वरूप—जो श्रावक त्रस जीवोंको मन वचन और काय द्वारा मारनेका भाव नहीं करता है न दूसरे के द्वारा ही घात कराता है, और जो दूसरे जीव घात करते हैं उसे अच्छा भी नहीं मानता, ऐसा अहिंसाणुव्रती श्रावक है। कैसा है वह श्रावक ? व्यापारादि कार्यों में दया सहित जिसकी प्रवृत्ति है अर्थात् ऐसा व्यापार वह नहीं करता है जिसमें महान् हिंसा हो। जैसे कत्लखाना खुलवाना, मिलें चलवाना, चमडादि का व्यापार करना, जंगल

के ठेकेदार बनना, लकडी कोयलादि का व्यापार करना
लोहाका व्यापार छुरी, कटारी, तलवार, रिवालवर, बंदूक
मशीनगन, बम आदिका व्यापार, हलवाईका व्यापार होटला-
दिकका व्यापार। हेअर कटिंग सैलूनादिकका व्यापार। साबुन
का कारखाना आदिका व्यापार, मांस मदिरा आदि सूखी
मछलियों का व्यापार, आचारादिकका व्यापार करनेका
भाव होता ही नहीं हैं। व्यापार आदि आटोमेटिक कार्यों में
जो हिंसा होती है जिसका उसीको दुःख है जो अपनी निंदा
करता है और घृणा पूर्वक गुरु के पास अपने पाप रूप
भावको प्रकटकर प्रतिक्रमण आलोचना और प्रायश्चित्तादि
करतां है।

दूसरा सत्याणुव्रत—उदासीन श्रावक को स्थूल
झूंठ बोलनेका भाव होता ही नहीं है। जो हिंसा का वचन
बोलनेका भाव नहीं होता है। जो कठोर वचन निष्ठुर वचन
परकी चुगलीका वचन, परकी गुह्य बात खोलनेका
जिसको भाव होता ही नहीं है। जो स्व-परको हितरूप,
प्रमाण रूप, सर्व जीवोंको सुख देनेवाला सद्धर्मकी प्रभावना
करने वाला वचन बोलने का ही जिसका भाव होता है।

तीसरा अचोर्याणुव्रत—विना दिये हुए दूसरे के
द्रव्य को लेने का भाव ही नहीं होता है। बहु मूल्य की

वस्तु को अल्प मूल्य में लेने का भाव नहीं होता है। जो कपट से। लोभ से, मान से और क्रोधसे परद्रव्य को लेने का भाव नहीं करता है ऐसे श्रावक तीसरे अचौर्याणुव्रत के धारक हैं।

चौथा ब्रह्मचर्याणुव्रत—अपनी विवाहिता स्त्री या विवाहित पुरुष के सिवाय सब स्त्रियों या पुरुषों को विकार भाव से नहीं देखना है। जो श्रावक स्त्री के देह को अशुचि-मय जान उसके रूप लावन्य में मोहित नहीं होते हैं। जो पर स्त्री को माता बहन और पुत्री तुल्य मन, वचन, काय से जानता है। जो स्वस्त्री में संतोष करता है, जिस के साथ भी तीव्रकाम वश विनोद क्रीडा रूप प्रवृति न करे परन्तु औषधि रूप में जिसका सेवन करे ऐसा श्रावक ब्रह्म-चर्याणुव्रतधारी कहा जाता है।

पांचवा परिग्रह परिमाण अणुव्रत—जो श्रावक आवश्यकता को कम करते हुए जीवन भर के लिये आवश्यकता अनुसार दश प्रकार के परिग्रह का परिमाण करले उसीका नाम परिग्रह परिमाण अणुव्रत है। दश प्रकार के नाम ये हैं (१) जमीन (२) मकान (३) सोना (४) चांदी (५) जेवरात (६) गाय भैंस, घोडादि (७) दासीदास

(८) अनाज (९) पीतल आदि के बर्तन, फर्नीचर इत्यादि (१०) कपडा बिछौना आदि।

प्रथम दिग्विरति गुणव्रत—जीवन भरके लिये अपनी त्याग वृत्ति के अनुसार पूर्व आदि सभी दिशाओं की मर्यादा निश्चित करके उसके बाहर धर्म कार्य के सिवाय अन्य निमित्त से जाने आने आदि रूप किसी प्रकार का व्यापार-हिंसादि नहीं करना उसी का नाम दिग्विरति गुणव्रत है। इस व्रतमें एक बार स्वीकृत दिशाओं की मर्यादा को कालान्तर में घटाया तो जा सकता है परन्तु बढाने का भाव तो होता ही नहीं है।

दूसरा अनर्थदण्ड विरति गुणव्रत—प्रयोजन के बिना होने वाला निरर्थक विकल्प का नाम अनर्थदण्ड कहलाता है ऐसे विकल्पी-भावों का त्याग करदेना अनर्थ दण्ड विरति गुणव्रत है। अनर्थदण्ड के विकल्प पांच प्रकार के होते हैं। (१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) प्रमादचर्या (४) हिंसाप्रदान (५) दुःश्रुति श्रवण।

अपध्यान का स्वरूप—दूसरे के दोषों को ग्रहण करने का भाव, परका धन-लक्ष्मी की वांछा करना, परकी

स्त्री का राग भावसे विकार से देखना तथा परका झगडा देखने में आनंद मानना यह प्रथम अपध्यान नाम का अनर्थदण्ड है।

पापोपदेशका स्वरूप—खेती के काम में सलाह देना, पशुका व्यापार करने में सलाह-रास्ता दिखाना, व्यापारका रास्ता दिखाना, जुआखाना कैसा बनवाना, इनकम-टैक्स से कैसे बचजाना, जगात से कैसे बचजाना इत्यादि के विषय में रास्ता दिखाने का भाव पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है।

प्रमादचर्या का स्वरूप—निष्प्रयोजन पृथ्वी खोदना। जल गिरादेना अर्थात् स्नानमें दो चार बालटी जल गिराना, नल के नीचे बैठकर स्नान करते ही रहना, बिना प्रयोजन अग्नि जलाते ही रहना, निष्प्रयोजन हवा खाना, इलेक्ट्रिक पंखा चलाते रहना, बत्ती जलाते रहना, बिना प्रयोजन वनस्पति को छेदन भेदन इत्यादि करना यह प्रमादचर्या नामका अनर्थदण्ड है।

हिंसादानका स्वरूप—बिलाव आदि हिंसक जीवोंका पालन करना, कुल्हाडी आदि मांगने से देना, खेती के कामके लिये दूसरे जीवोंको फावडा, कुदाली, आदि

देना। छुरी, कटार, तलवार, रिवालवर आदि हिंसाकारी उपकरण दूसरे जीवोंको भेटमें देना। साधु कहलाने वाले जीवों अथवा परिग्रह महाव्रत के पालन करने वाले जीवोंको साबुन, घडी, चश्मा, फाउनटेनपेन, चटाई, कपडे आदिका दान देना यह सब हिंसादान नामका अनर्थदण्ड है।

दुःश्रुति का स्वरूप—एकान्त वादियों के बनाये हुए कुशास्त्रोंका तथा हास्य कौतूहल करनेवाले नोवेल-शास्त्रों तथा वशीकरण मंत्र जंत्रादिक के शास्त्रों, तथा स्त्रियोंको कुचेष्टा दिखाने वाले कोकशास्त्रों आदिका पढना-सुनना और ऐसे शास्त्र दूसरे जीवोंको दान में देना ये सब दुर्श्रुति नाम का अनर्थदण्ड है।

ये पांच प्रकारके अनर्थदण्ड आत्मा को दुखमें डुबानेवाले हैं। ऐसे अनर्थदण्ड के जो श्रावक त्यागी हैं वे ही अनर्थदण्ड-विरति गुणव्रतके धारी हैं।

तीसरा भोगोपभोग परिमाण गुणव्रत—

उदासीन श्रावक अपनी शक्ति एवं परिग्रह की मर्यादा जान भोजन, तांबूल, वस्त्र आदिका प्रमाण-मर्यादा करे। जो आत्मा प्राप्त वस्तु का त्याग करता है उसी की देवों का इन्द्र भी प्रशंसा करता है, तथा जो अप्राप्त वस्तुका त्याग करता

है, वह इतना प्रशंसा को प्राप्त नहीं है। भोजन, पानी माला आदि भोग वस्तु हैं और बिछौना चारपाई, वस्त्रभूषण स्त्री, आदि उपभोग हैं। इनकी निरन्तर आवश्यकता को कम करते हुए परिमाण करते रहना भोगोपभोग परिमाण नामका गुणव्रत है। आज मैं इतना रस छोड़कर आहार लेऊंगा। मैं आज इतनी वार जल पीऊंगा। मैं आज इतना ही कपड़ा, गहना पहनूंगा। मैं आज स्त्रीका भोग नहीं करूंगा इत्यादि की मर्यादा कर ही लेना चाहिये। चौके में अनेक सामग्री बची है तो भी इतनी मर्यादा करके मैं मात्र आज दाल-रोटी ही लेऊंगा। दूध छोडकर खीर और मावा खालेना। मीठा छोडकर किशमिश छुआरे का हलवा खालेना,। घृत छोडकर खोपरे का लड्डू खालेना। नमक छोडकर मीठा बनानेका आदेश देना यह त्याग नहीं है यह तो छल है। ऐसा त्याग तो अपनी ही आत्माको ठगता है।

प्रथम सामायिक शिक्षाव्रत—

सामायिक करने में क्षेत्र, काल, आसन, मन-शुद्धता वचनशुद्धता और कायकी शुद्धता रखना यह तो सामायिक की सामग्री है। जहां घोंघाट न हो, जहां बहुत लोगोंका आवागमन न हो, जहां डांस, मच्छर चींटी भ्रमर आदि शरीरके बाधाकारक जीव न हों ऐसी भूमी-क्षेत्र सामायिक

करने योग्य है। प्रभातकाल, मध्याह्न काल और अपराह्न काल इन कालोंमें दो दो घडी काल सामायिक करने योग्य है ऐसा गणधरदेव ने कहा है। पर्यंकासन अथवा खड्गासन रहने कालकी मर्यादाकर, विषय में इन्द्रियोंका व्यापार न होने देना परन्तु जिस वचनमें एकाग्रचित्त अथवा अपनी आत्माके गुण पर्याय के चिंतवन में, अथवा पंचपरमेष्ठि की भक्ति में या जाप में एकाग्र चित्तकर कायोत्सर्गकर, हस्तकी अंजली जोडकर, अपनी आत्माका चिन्तवन करना और सर्व प्रकारके साध्य योग का त्याग करना इसीका नाम व्यवहार सामायिक शिक्षाव्रत है। निर्ग्रंथ सामायिक तो अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्याख्यान कषायके अभाव रूप वीतराग भाव प्रगट हुवा है, वही है। सामायिक के काल में हाथ पैर आदि शरीरके अवयवों को निश्चल न रखकर व्यर्थ ही चलाते रहना, नींदका झोंका लेना, कभी कमरको सीधी करना और कभी झुका देनाा तथा कभी आंखोका खोलना और कभी बन्द करना आदि व्यवहारों से सामायिकमें अतिचार लग जाते हैं जिसको कायदुष्प्रनिधान नामका अतिचार कहा जाता है। सामायिक के काल में गुनगुनाने लगना इत्यादि अतिचारका नाम -वचन दुष्प्रनिधान है। सामायिकके कालमें मनमें अन्य विकल्पोंका

हो जाना, किसीका भला बुरा विचारने लगना। व्यापारका गृहस्थीका विचार आजाना इत्यादि अतिचार का नाम मन दुष्प्रनिधान है। सामायिक में उत्साह का न होना अर्थात् सामायिक का समय होने पर भी योग्य कालमें समायिक में न बैठना एवं सामायिक में चित्त न लगाना जैसे तैसे काल पूरा करना इस अतिचारका नाम अनादर नामका अतिचार है। सामायिक में चित्त न लगाने से पाठ बोलते बोलते भूल जान, इधरका उधर बोल देना, यह भी सामायिक का अतिचार है जिसको स्मृत्यनुपस्थान नामका अतिचार कहा जाता है। इस अतिचार को लगाने के लिये अतिचार दिखाया नहीं है परन्तु इतना अतिचार लगाने वाले जीवको सामायिक में रुचि है तो एक दिन वह नियम से सुधर जायगा। परन्तु ये दोष समझकर जो सामायिक करना छोड़ देगा उस जीवको सुधरने का भी अवकाश नहीं है।

दूसरा प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत—

उदासीन श्रावक पक्ष के अष्टमी-चतुर्दशी दोनों ही पर्व के दिन में स्नान विलेपन आभूषण स्त्री-संसर्ग सुगंध धूप-दीप आदि भोगोपभोग की वस्तु का त्यागकर वैराग्य भावना सहित आत्माको सुशोभित कर उपवास अर्थात् चारों

प्रकार का आहार खाने के भावका त्याग अथवा एक भुक्ति वा नीरस आहार ले चैत्यालय, साधुनिवास, उपवास गृह आदि एकान्त स्थान में धर्म कथा करते हुए समय बिताना उसी का नाम प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है।

तीसरा देशविरति शिक्षाव्रत—

उदासीन श्रावक दिग्विरति गुणव्रत में जो दशों दिशाओं के जीवन भरकी मर्यादा की थी उस मर्यादा में कषायकी निवृत्ती के लक्ष से एवं वाह्य पाप हिंसादि की निवृत्ति के लक्षसे नियम पूर्वक अमुक दिन, मास आदि पाप प्रवृति के लिये जाने आने का मर्यादा में घटाता जावे उसीका नाम देश विरति शिक्षाव्रत है।

चोथा अतिथि संविभाग नामका शिक्षाव्रत—

उदासीन श्रावक उत्तम, मध्यम, जघन्य इस प्रकार तीन प्रकार के पात्रों को दातार उत्तम पात्र नग्न दिगम्बर मुनि को नवधा भक्ति से और अन्य पात्रों को उसके पद के अनुकूल भक्ति—पूर्वक अपने निजके लिये जो आहार बनाया है उसमें से ही दान नित्य देवे उसीका नाम अतिथि संविभाग नामका चौथा शिक्षाव्रत है। नवधाभक्ति इस प्रकार की होती है। (१) पडगाहना उच्चस्थान (२)

पादप्रक्षालन (४) पूजन (५) प्रणाम-(वंदना) (६) मनशुद्धि (७) वचनशुद्धि (८) कायशुद्धि (६) आहारपान शुद्धि ।

दान चार प्रकार का है (१) आहारदान (२) औषध-दान (३) अभयदान (४) ज्ञानदान । चारों प्रकार के दान उत्तम हैं तो भी सर्वोत्तम ज्ञानदान ही है जो दान अनंत संसार के दुःख के काटने को शस्त्र समान है ।

सल्लेखना मरण—उदासीन व्रती श्रावक समाधि पूर्वक मरना चाहता है । ऐसा श्रावक जीवन के अन्तिम कालमें सल्लेखना व्रत को धारण करता है । भली प्रकार से काय और कषाय का कृश करना सल्लेखना कही जाती है । जीवन के अन्त में जब यह प्राणी देखता है कि मेरी यह पर्याय छूटने वाली है तब वह शरीर से तथा दूसरे परि-चारों से अपना ममत्व-रोग घटाने का प्रयत्न करता है परन्तु यह बात सहज साध्य नहीं है किन्तु इसके लिये बडे भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता है । इसके लिये इसे कुटुम्ब आदि से ममत्व घटा'कर अन्त में देह, आहार और परिग्रह का त्याग करता हुआ आत्मध्यान में अपने को लगाता है तब कहीं समाधि पूर्वक मरण प्राप्त होता है । यह व्रत मरण से पूर्व मरण तक लिया जाता है इसलिये इसी को मारणान्तिकी सल्लेखना कहते हैं । अपनी शक्ति

देखकर प्रथम आहार और परिग्रह का त्याग करता है। पीछे क्रम से आहार छोडकर मात्र दूध-लेता है और दूध छोडकर मात्र छाछ लेता है। छाछ का त्याग कर मात्र जल लेता है, शेष में जल छोडकर मरण पर्यंत उपवास कर लेता है। यह व्रत मुनि और श्रावक दोनों के लिये बतलाया है।

तीसरी सामायिक प्रतिमा—उदासीन श्रावक तीन बार नियम पूर्वक सामायिक करे उसमें प्रमाद को न आने दे। सामायिक में बारह आवर्त सहित, चार प्रणाम सहित पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हुआ प्रसन्न है आत्मा जिसका ऐसा वीर धीर श्रावक दृढ चित्त होकर कायोत्सर्ग कर अपने गुण पर्याय की चिन्तवना करे या देव गुरु और धर्म की चिन्तवना करे या सामायिकादि पाठ शान्त चित्तसे बोले या पंच परमेष्ठी का जाप कर सावद्य योग का त्याग कर व्यवहार धर्मध्यान में समय व्यतीत करे। यह सामायिक भी व्यवहार सामायिक है इसमें भी जीवों को अनेक प्रकार का अतिचार लगजाता है तो भी धर्मात्मा जीव उस अतिचार को छोडने का प्रयत्न करता है और सामायिक के प्रति अनादर भाव नहीं करता है। सामायिक शिक्षा

व्रत में सामायिक प्रयोगरूप अनियमित रूप में होजाती थी परन्तु सामायिक प्रतिमा में नियमित रूप होती है इतना ही इसमें भेद है।

पोषध प्रतिमा का स्वरूप—ऐसा उदासीन श्रावक शक्ति होवे तो जीवन भर एक बार आहार जल लेनेकी प्रतिज्ञा करे यह उत्तम रीति है। यदि यह न बन सके तब पक्ष में दो बार अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी का नियम पूर्वक उपवास करने की जीवन पर्यन्त की प्रतिज्ञा कर ले। सप्तमी और त्रयोदशी के दिन में दोपहरके बाद जिन चैत्यालय में जाकर शास्त्र स्वाध्याय में दिन व्यतीत कर संध्या समय सामायिकादि नित्य क्रिया-कर्म कर चार प्रकार के आहार का त्यागकर उपवास ग्रहण करे। गृहस्थी का सर्व प्रकार के सावद्ययोग का त्याग कर व्यवहार धर्म-ध्यान पूर्वक सप्तमी और त्रयोदशी की रात्रि व्यतीत करे और अष्टमी चतुर्दशी के प्रातः सामायिकादि नित्य क्रिया-कर्म से निवृत्त होकर सारा दिन धर्मध्यान में अर्थात् शास्त्र स्वाध्याय, धर्म की चर्चा आदि में व्यतीत करे। संध्या समय भी सामायिकादि नित्य नियम से निवृत्त होकर सारी रात्रि भी धर्म ध्यान में व्यतीत करे। नवमी वा पूर्णिमा के दिन प्रातः में सामायिकादि क्रिया से निवृत्त होकर जिन पूजनादि विधान में

व्यतीत करे। भोजन के समय तीन प्रकार के पात्रों का पडगाहन कर उन्हीं को आहारादि दान देकर स्वयं आहार करे। इसी प्रकार के जीवों की भाव-क्रिया का नाम प्रोषध प्रतिमा है। जो उदासीन श्रावक आरंभ का त्याग कर उपवास करता है वह जीव बहुत भवों के बांधे हुए कर्मों का नाश करता है परन्तु जो जीव उपवास कर घर कार्य में या व्यवसाय में ही दिन व्यतीत करता है। इस तरह जीवन में आहार मात्र का ही त्याग करने से तथा विषय कषाय और सावद्य योगका त्याग न करे तो वह उपवास लंघन मात्र ही है। ऐसा लंघन-रूप उपवास से कर्म की निर्जरा नहीं होती है। यहां कर्म की निर्जरा कही है परन्तु उपवास से आत्मीय निर्जरा नहीं होती है मात्र पुन्य बन्ध ही पडता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा का स्वरूप—सचित्त त्याग प्रतिमाधारी उदासीन श्रावक का सचित्त वनस्पति खाने का भाव होता ही नहीं परन्तु उसे नियम से प्रासुक वनस्पति खाने का भाव होता है। इतना इसमें राग भाव का अभाव होता है यद्यपि वह श्रावक अपने हाथ से ही सचित्त वनस्पति को प्रासुक बनाता है। वनस्पति प्रासुक बनाना त्याग नहीं हुवा है मात्र सचित्त खाने के भाव का त्याग हुवा है।

शंका—तब वह उदासीन श्रावक क्या वनस्पति के के जीवों को मार कर खावेगा ?

समाधान—यह आपकी भाषा ही कठोर हिंसा-युक्त है, जैसे माता को माता न कहकर पिता की जोरू या पत्नि कहना विवेक शून्य है। वनस्पति के जीवों को मार कर खाने का भाव नहीं है परन्तु वहां तो तीव्र खाने के राग का अभाव होता है जिसको विवेक वाली भाषा में प्रासुक आहार खाने वाला कहा जाता है। जैसे एक व्रती तथा दूसरा अव्रती मनुष्य बाहर गांव जा रहे हैं। उन दोनों को बहुत ही क्षुधा एवं प्यास भी लगी है। एक गांव में पहुँचते ही खाने का पदार्थ खोजते हुए उन्हें बाजार में ककडी मिली। जिसको सचित्त का त्याग नहीं है वह मनुष्य तो तुरन्त सचित्त ककडी खाने लगा और कच्चा जल पीने लगा परन्तु जिसको सचित्त का त्याग है वह जीव जब तक ककडी प्रासुक न होवे तबतक वह जीव अपने खाने के भाव को रोकता है। यही तो भावों में महान फर्क है। भाव के फर्क में आप देखते नहीं हो और जीवों को मार कर खाता है यह कहना महान मूर्खता और मूढता है।

शंका—जिस जीव के हरा-कच्चा आलू का त्याग है वह उसे सुखाकर खा सकता है ?

समाधान—दूसरी वनस्पतियों प्रासुक कर न खाना और मात्र आलूको प्रासुक-अर्थात् सुखाकर खाना यह तो तीव्र राग भाव है। जहां तीव्र राग भाव है वहां धर्मकी गन्ध भी या भाव भी नहीं है। धर्मात्मा-जीव ऐसा छल करता ही नहीं।

शंका—जैसे अदरख एवं आलू दोनों ही अनंतकाय हैं। अनन्त जीवकी जिसमें हिंसा होती है। ऐसे एक ही जातिके होते हुए सोंठ तो खाते हैं इसी प्रकार सूखा आलू खानेमें क्या दोष है ?

समाधान—सोंठ खानेके रागमें और सूखा आलू खाने के राग में महान अन्तर है। सोंठ तो औषधि की तोर से खाई जाती है, जब सूखा आलू खानेके आहार की तौरसे खाया जाता है। दोनों राग में महान अन्तर है। सूखा आलू खानेका राग तीव्र पापका ही कारण है इसलिये धर्मात्मा जीव ऐसे निकम्मा भाव कभी भी नहीं करता है।

सचित्त त्याग प्रतिमा धारी उदासीन श्रावक के जिस जिस वस्तुका त्याग है ऐसी सचित्त वस्तु दूसरे जीवोंको भी खानेको नहीं देता है क्योंकि खाने और खिलानेमें कोई अन्तर नहीं है। कृत कारित और अनुमोदना का समान

फल है। जिसने सचित्त वनस्पतिका त्याग कर दिया है, उस जीवने अपनी जिह्वा इन्द्रियको जीतकर दया भाव प्रगट किया है क्योंकि उसने जिनेन्द्र देवके वचनका पालन किया है।

छटवीं रात्रिभुक्ति अनुमति-दिवामैथुन त्याग प्रतिमा—

यह प्रतिमा पुरुष के लिये रात्रि भुक्ति अनुमति त्याग रूप प्रतिमा है और स्त्री के लिये दिवस मैथुन सेवन करने का त्याग रूप प्रतिमा है। उदासीन श्रावक-श्राविका का अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करने का भाव अभी नहीं हुवा है जिससे वे दोनों अभी अब्रह्मचर्यका सेवन करते हैं, जो संतति उत्पत्तिका कारण है। बालक की उत्पत्ति होने से उसकी माता रात्रिमें उस बालक को दूध-जल आदि पिला देगी जिस कारण से स्त्री को रात्रि में चार प्रकार के आहार को खानेका त्याग है परन्तु वह अभी रात्रिमें खिलाने को अनुमोदनाका त्याग नहीं कर सकती है। परन्तु वह इतनी उदासीन है कि उसे दिन में अवश्य सेवन करनेका भाव होता ही नहीं है।

पुरुष को रात्रिमें चार प्रकारके आहार खानेका त्याग तो पहली प्रतिमा में हो चुका था परन्तु निकटके स्नेही

जनको रात्रि में खिलानेके रागका अभाव नहीं हुवा था। इस प्रतिमा रूप भाव होने से अब अपने निकटके स्नेही को भी रात्रिमें खिलादेनेकी अनुमोदना के भावका भी अभाव हो जाता है और विशेष वैराग्य भाव की ओर बढ़ रहा है।

सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा–

उदासीन श्रावक-श्राविका से अभीतक अब्रह्मचर्यका सेवन होजाता था परन्तु अब ऐसा निर्मल भाव हुआ कि वह अपनी पत्नी के साथमें भी माता-बहन की तरह व्यवहार करने लगा है। अब अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करता है।

अब्रह्मचर्य सेवन करनेके भावका जो अभाव हुवा वह तो निर्जराका भाव है परन्तु मेरे ब्रह्मचर्यमें कोई दोष न आवे इस विषयमें जिस सावधानी का भाव है वह पुन्य भाव है। बाढ से ब्रह्मचर्य का पालन करने का भाव पुन्य भाव है।

सातवी प्रतिमा तक के भावमें श्रावक व्यापार आदि कार्यकर सकता है परन्तु वह व्यवसाय न्याय सम्पन्न के साथ जिसमें थोडी थोडी भी हिंसा हो ऐसा व्यवसाय करता है। आठवीं प्रतिमा के भाव में इन सब अवस्थाओं के भावका अभाव होजाता है।

आठवीं आरंभत्याग प्रतिमा—

इस प्रतिमा रूप भावमें उदासीन श्रावक सर्व प्रकारके आरंभ का त्यागकर देता है। अब ऐसे उदासीन श्रावक को कुएमें से जल भरना, चूल्हा जलाना, चक्की पीसना, पंखासे हवा खाना, जमीन आदि खोदना एवं हरित कायको काटना सपाट का भाव नहीं होता है। ऐसे उदासीन श्रावक को अपने साधर्मीभाई भोजनका निमंत्रण दे जाते हैं उन्हींके घर चौके में वह आहार कर आता है।

ऐसा उदासीन श्रावक सर्व प्रकारकी सवारी का अर्थात् रेलमें बैठना, मोटर में बैठना, हवाई जहाजमें यात्रा करना बलगाडी, घोडेकी गाडी एवं किसी भी प्रकारके जानवर पर बैठकर यात्रा करनेका भाव होता ही नहीं। वह नियमसे पैदल विहार करता है वह भी विहार इर्या समिति पूर्वक ही करता है।

शंका—शास्त्रमें क्षुल्लक पदके धारी जीवोंने विमानमें विहार किया है ऐसा उल्लेख मिलता है तब आप इधर मना कैसे करते हो?

समाधान—वह जो उल्लेख है उसमें तो मंत्रसे विमान चलता था जिसमें हिंसाका कारण नहीं था परन्तु

रेलवे, हवाईजहाज, मोटर आदि तो तंत्र से अर्थात् मशीन से चलते हैं जो हिंसाकारी उपकरण हैं। रेल से तो भैंसा आदि बडे २ जानवर भी कट जाते हैं। मोटर से पक्षी एवं 'जमीन पर चलने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय बहुत जानवरों की हिंसा होती प्रत्यक्ष दिखाई देती है। ऐसी महान हिंसाके उपकरणों का उपयोग धर्मात्मा उदासीन आत्मा कैसे कर सकता है? वर्तमान में यह जो मार्ग दिखाई देता है वह छोटे जीवों में ही देखनेमें आता है। सचा उदासीन श्रावक को ऐसा भाव होता ही नहीं है।

शंका—आरंभ त्यागी श्रावक टार्च लाईट एवं लालटैन इलेक्ट्रिक बत्ती आदि जला सकता है या नहीं?

समाधान—अरेरे? यहतो प्रत्यक्ष हिंसा है। ऐसा भाव आरंभत्यागी को होता ही नहीं है। विशेष तो क्या जलती हुई लालटैन की बत्ती कम करने का भी भाव उसे होता नहीं है।

आरंभ त्यागी श्रावक अपना कपडा भी अपने हाथ से नहीं धोता है क्योंकि उसके ऐसा भाव होता ही नहीं है।

शंका—तब क्या आरंभत्यागी श्रावक मैला कपडा पहनेगा ? ऐसे मैले कपडे में तो त्रस जीवकी उत्पत्ति हो जाती है।

समाधान—आरंभ त्यागी श्रावक कपडा की धुलाई भी स्वयं नहीं करता एवं मलीन वस्त्र भी नहीं पहनता, परन्तु गृहस्थी श्रावक ऐसे आरंभ त्यागी श्रावक के वस्त्रों की प्रासुक जल से धुलाई कर यथायोग्य टाइम पर दे जाता है। यह तो गृहस्थों का धर्म है।

ऐसा आरंभ त्यागी श्रावक व्यवसाय का तो त्याग कर ही देता है परन्तु अपने पास में जो पूंजी लक्ष्मी है उसका सूद भी नहीं खाता है। अभी उसके पास में धनका परिग्रह है परन्तु वह तो मात्र धर्म कार्य में ही लगाता है।

नौवी परिग्रह त्याग प्रतिमा—आरंभ त्याग प्रतिमा धारी के पास में जो धन का परिग्रह था जिसे वह शास्त्रादि दान में लगाता था, अब परिग्रह त्याग प्रतिमा में ऐसा धन भी रखने का भाव उसके नहीं होता है, मात्र अमुक वस्त्र छोडकर सभी चीजों का त्याग होता है।

ऐसा परिग्रह त्यागी श्रावक यद्यपि निमंत्रण से ही आहार श्रावक के घर ले आता है तो भी आहार बनाने

में अभी अनुमति देता है। निमंत्रण स्वीकार करना यह भी तो अनुमति ही है। हमारे लिए उकाली आदि बनवालेना इत्यादि कहना भी अनुमति है। इस प्रकार की अनुमति का त्याग इस प्रतिमा में होता नहीं है।

दसवीं अनुमति-त्याग प्रतिमा—इस प्रतिमा के भाव में सब प्रकार की सावद्य की अनुमती का भाव छूट जाता है। यह प्रतिमा-धारी श्रावक भोजन का निमंत्रण स्वीकार नहीं करता है क्योंकि निमंत्रण स्वीकारने में तो भोजन में जो हिंसा होती है उसमें उस की अनुमोदना आती है परन्तु अनुमति त्याग प्रतिमा में उस प्रकार की अनुमति का भी त्याग हो जाता है। अनुमति त्यागी श्रावक को अब यह भाव होता ही नहीं है कि मेरे लिये उकाली बनवा लेना। परन्तु गृहस्थ श्रावक भोजन के समय में उसे भक्ति सहित अपने चौके में ले जाकर आहार पान खिला देता है। इस प्रतिमा में दूसरी बार जल लेकर पीनेका भाव होता ही नहीं है।

इस प्रकार उदासीन अनुमति त्यागी श्रावक अपने लिये श्रावक के घर में बनाया हुवा प्रासुक आहार लेता है। यदि उसके लिये आहार न बनता तो श्रावक ऐसे त्यागी को आहार के लिये बुलाने को क्यों जाता ? इससे सिद्ध होता

है कि अभी भी उस अनुमति त्यागी को उद्दिष्ट आहार का दोष लगता ही है।

ग्यारहवीं उद्दिष्ट आहार त्याग प्रतिमा—

अनुमति त्यागी उदासीन श्रावक में विशेष रूप से वैराग्य भावना होती है और वह सोचता है कि मेरे निमित्त से बना हुवा भी आहार क्यों लेऊँ? तब वह श्रावक प्रतिज्ञा करता है आज से जीवन पर्यंत मेरे निमित्त से जो आहार बना होगा वह नहीं लेऊंगा। ऐसा सोचकर भिक्षाचरण पूर्वक ही मन वचन और काय से तथा कृत-कारित अनुमोदना जन्य नो प्रकारके दोष रहित जो आहार होगा वही ग्रहण करूंगा। ऐसा आहार न मिलेगा तो उपवासादि करूंगा या समाधिमरण करूंगा। ऐसा उदिष्ट आहार त्यागी निर्दोष आहार ग्रहण करता है, परन्तु सचित्तादि दोषों सहित ग्रहण नहीं करता है। जो आहार ग्रहण करता है वह भी याचना रहित ग्रहण करता है परन्तु याचना पूर्वक नहीं ग्रहण करता है। ऐसे उदिष्ट त्यागी श्रावक में और श्राविका में भी दो २ भेद हैं (१) क्षुल्लक (२) ऐलक और स्त्री में (१) क्षुल्लिका (२) अर्जिका। इन दोनों में निम्न प्रकार के भेद हैं।

क्षुल्लक अपने पास में परिग्रह लंगोटी तथा एक चादर रखता है। वह कैंची आदि से केश लोंच करावे या अपने हाथ से भी केश लोंच करे। वह बैठकर धातु के पात्र में भोजन कर या कर पात्र में भी भोजन करता है। बाकी की क्रिया इसी प्रकार क्षुल्लिका भी एक साडी तथा एक चादर मात्र का परिग्रह रखती है। ऐलक परिग्रह में मात्र लंगोटी का ही परिग्रह रखता है क्यों कि उसने अभी तक स्पर्श इन्द्रिय को जीती नहीं है वह केश लोच भी करता है और अपने करपात्र में भोजन करता है और बैठकर भोजन करता है। ज्ञान पाहुड की गाथा २१ में कहा भी है —

दुइयं च उत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
भिक्खं भयेई पत्ते समिदी भासणे मोणेय॥

अर्थ—दूसरा लिंग कहिये भेष उत्कृष्ट श्रावक कहिये जो गृहस्थ नहीं है ऐसा उत्कृष्ट श्रावक ताका कहा है, सो उत्कृष्ट श्रावक ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक है सो भ्रमण करे भिक्षाकारी भोजन करे, बहुरि पत्ते कहिये पात्र में भोजन करे तथा हाथमें करे, बहुरि समिति रूप प्रवर्तता भाषासमिति रूप बोले अथवा मौन करि प्रवर्ते।

अर्जिका परिग्रहमें मात्र एक साडी ही रखती है, एक बार भोजनपान करती हैं और ऐलक की सब विधिका पालन करती हैं।

शंका—जब रजस्वला हो जावे तब अर्जिका को मात्र एक साडी से कैसे काम चल सकता है ?

समाधान—जब अर्जिका की साडी मलीन हो जावे तब गृहस्थका धर्म है कि वह दूसरी साडी अर्जिका को दे। उसकी पुरानी साडी अपने यहां ले जावे इसीसे मात्र एक साडी से अर्जिका का काम चल सकता है। सूत्र पाहुड में गाथाकरने कहा भी है कि—

लिंगं इत्थीण हव द भुंजइ पिंडं सुएयकालम्मि।
अज्जिय वि एकवत्था वत्थावरणेण भुंजेइ ॥

अर्थ—स्त्री का—अर्जिका का लिंग ऐसा है। एक काल विषै भोजन करे बारंबार भोजन नहीं करे बहुरि अर्जिका भी होय तो एक वस्त्र धारे बहुरि भोजन करते भी वस्त्रके आवरण सहित करें नग्न नहीं करे।

शंका—ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक श्राविका अपना वस्त्र अपने हाथ से धुलाई करें या नहीं ?

समाधान—नहीं-वह अपने हाथ से वस्त्रकी धुलाई नहीं करता है। ऐसा हिंसाका आरंभका त्याग भावतो उसे आरंभ त्याग प्रतिमामें होजाता है। इसके वस्त्रकी गृहस्थ धुलाई प्रासुक जलसे कर देता है और यही गृहस्थका धर्म है।

शंका—यदि गृहस्थ उसके वस्त्र की धुलाई न करे, ऐसी अवस्था में वह क्या करे ?

समाधान—द्रव्य क्षेत्र काल भाव विचार कर ही वह प्रतिज्ञा लेता है और जो द्रव्य क्षेत्रकाल भावका विचार किये बिना ही त्यागी बनजाता है वही जीव नियमसे अपने पदसे भ्रष्ट हो जाता है। अपने हाथ से ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक वस्त्रकी धुलाई करे तो वह ग्यारहवीं प्रतिमा धारी श्रावक नहीं है परन्तु नाम मात्र का त्यागी है।

शंका—ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक-श्राविका मोटर रेल आदि में बैठकर विहार कर सकता है या नहीं ?

समाधान-यह तो मात्र हिंसाका उपकरण है। ऐसे उपकरण में बैठकर विहार करनेका भाव उत्कृष्ट श्रावकको होता ही नहीं। ऐसा कार्य तो आरंभ त्यागी प्रतिमा धारी श्रावक भी न करे तो उत्कृष्ट श्रावक कैसे कर सकता है। यदि वह ऐसे उपकरण का उपयोग करे तो मानना

चाहिये कि वह यथार्थ में उत्कृष्ट श्रावक नहीं है परन्तु मात्र नाम धारी है।

शंका—ऐलक क्षुल्लक आदि टार्च लाइट का उपयोग कर सकता है ? वर्तमान कालमें बहुत उत्कृष्ट पदके धारी टार्च-लाइट रखते है तो क्या यह उचित है ?

समाधान—यह तो निरर्गल प्रवृति है। टार्चलाइट ता हिंसाका ही उपकरण है और ऐसा उपकरण जब आरंभ त्याग प्रतिमा धारी नहीं रख सकता है तब ऐसा उत्कृष्ट त्यागी कैसे रखेगा।

संज्वलन कषाय—संज्वलन कषाय वाले आत्मा में त्रस और स्थावर जीवों को विराधने का भाव होता ही नहीं। हिंसा करने का भाव, झूठ बोलन का भाव चौरी करने का भाव, मैथुन सेवन का भाव एवं किंचित भी परिग्रह रखने का भाव होता ही नहीं। इससे कारण से जिसका बाह्य लिंग नग्न दिगंबर है और अभ्यन्तर में भी किंचित कषाय करने का भाव नहीं है। जिसको अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान कषाय के अभाव में वीतराग दशा का अनुभव हो रहा है। मात्र वर्तमान में संज्वलन कषाय का वेदन है परन्तु इस कषाय के अभाव का पुरुषार्थ कर रहा

है। संज्वलन कषायवाला आत्मा जब गमन करता है तब चार हाथ जमीन सोधकर ऐसे पुन्य भाव से चलता है कि उसके द्वारा कोई भी जीव का घात न होजावे। इतना भूमि-सोधनका उपयोग निरंतर रहता है। जिसके पास में मात्र जीवकी दया के लिये मयूर पिच्छिका, शौच के उपकरण रूप जल रखने के लिये काठ का कमण्डलु और ज्ञान के उपकरण के लिये केवल शास्त्र है जिसको उठाने में रखने में भी महान दयामयी उपयोग है। जिसकी भाषा सत्य और हितमित वचन रूप निकलती है, जिसकी भाषा में न कटुता है और न कठोरता देखने में आती है। प्रासुक शुद्ध आहार लेने रूप पाप भाव होता है परन्तु वहां भी समस्त प्रकार के दोष तथा अंतराय टाल कर लेने के भाव होते ऐसे जो नियमसे व्रतपरिसंख्यान नाम के तपरूपी पुन्य भाव से ही निकलते हैं वे कभी भी आहार की याचना करते नहीं। ऐसा शान्त निर्मल परिणाम है। जिसको टट्टी जंगल में जाने का ही भाव रहता है परन्तु अपने लिये बनाये हुए टट्टी घर में जाने का भाव होता ही नहीं है। जिसमें देव मनुष्य और तिर्यंच द्वारा किया गया उपसर्ग की सहन शक्ति प्राप्त हो चुकी है ऐसा मुनिराज सिंह वृत्तिसे एकाकी जंगलों में ही विहार करता है, परन्तु जिस मुनि में

शीतकाल में जिसको नदी के तट पर कायोत्सर्ग रूप में रहने का भाव होता है, उष्णकाल में पर्वत के शिखर पर, मध्याह्न काल में आतापन योग करने का भाव होता है, और वर्षा ऋतु में जिसको पेड के नीचे परिषह सहन करने रूप पुण्य भाव होता है। इसी प्रकार के भाव संज्वलन कषाय में होते हैं।

योगबन्ध—मन वचन और काय के निमित्त से प्रदेशों का कम्पन होते रहना इसी का नाम योग बन्ध है, जिसको यथार्थ में आश्रव भी कहा जाता है। आश्रव विना बन्ध होता ही नहीं। इस कारण उपचार से योग को बन्ध भी कहा जाता है।

जडबन्ध—जो कार्माण वर्गणा आश्रव में आत्मा के प्रदेश के नजदीक आई थी उसी वर्गणा का नाम प्रदेश है और उसी में से ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप और इसकी उत्तर प्रकृति रूप उसी की अवस्था होना उसी को प्रकृत्ति बन्ध कहते हैं। और ऐसी प्रकृत्ति के आत्मा के प्रदेशों के साथ काल की मर्यादा रूप रहना इसी को स्थिति बन्ध कहते हैं और जब उस कर्म का उदय काल आता है तब आत्मा में जिस प्रकार के सुख-दुख का वेदन होता है उसी का नाम अनुभाग बन्ध है। ऐसी चार प्रकार की कार्माण

वर्गणा की अवस्था हो जाना उसी का नाम जड बन्ध है। यह सब अवस्था जिस समय में आश्रव द्वारा कार्माण वर्गणा में आई उसी समय हो गई, इसमें समय भेद नहीं है।

संवर तत्व—संवर दो प्रकारका है। (१) चेतन सवर (२) जड संवर। जिसको शास्त्रीय भाषामें भाव संवर और द्रव्य संवर कहते हैं।

चेतन संवर—बन्ध के कारण का अभाव होजाना उसीका नाम यथार्थ में संवर है। बन्ध मिथ्यात्व कषाय और योग से पड रहा था इन तीनों भावोंका अभाव होना संवर है। गुणस्थानकी परिपाटी में एक से तीन गुणस्थान मिथ्यात्वकी अपेक्षा से हैं। चार से दश गुणस्थान कषाय की अपेक्षा से हैं। इसी प्रकार संवर भी क्रम पूर्वक अर्थात् प्रथम मिथ्यात्वका ही संवर होता है बादमें कषायकाही संवर होता है और शेष में योगका ही संवर होता है। बादमें लघु काल में आत्मामें मोक्ष तत्वकी प्राप्ति होती है। मिथ्यात्वका संवर किये विना कषायका संवर करने में आत्मा ने अनंतकाल निकाल दिया परन्तु मिथ्यात्वका संवर हुए विना कषायका संवर होता ही नहीं। यही ज्ञान न होने के कारण आत्मा मिथ्यात्वका संवर करने पर लक्ष देता नहीं है। यही संसारकी जड थी।

मिथ्यात्व संवर—आत्माका श्रद्धा नामका गुण जो अनादिकाल से मिथ्यादर्शन रूप परिणमन करता था उस गुणका शुद्ध परिणमन होना कि जिसको सम्यग्दर्शन कहते हैं उसीका नाम मिथ्यात्वका संवर है। मिथ्यात्व अवस्थामें जीवकी जो विपरीत श्रद्धा थी वही श्रद्धा सम्यग्दर्शन में सत्यश्रद्धा हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जीवमें इस प्रकारकी श्रद्धा होती है कि पुण्यसे धर्म कभी भी नहीं होता है पुण्य नियमसे बन्धका ही कारण है। पत्नी मेरी नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। पिता मेरा नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। माता मेरी नहीं हैं मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। शरीर मेरा नहीं है मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं पुरुष नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं स्त्री नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मै बालक नहीं हूँ मैं ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं युवा नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं बुड्ढा नहीं हूँ मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ। मैं देव नहीं हूं मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं तिर्यंच नहीं हूं मैं तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूं। मैं नारकी नहीं हूँ में तो ज्ञायक स्वभावी आत्मा हूँ।

मैं किसी भी जीवको बचा नहीं सकता हूं सब जीव अपनी अपनी आयुकर्म से ही बचते हैं। मैं किसी जीवको मार सकता नहीं हूँ, सब जीव अपनी अपनी आयु पूरी होने से मरते हैं। मैं किसी जीवको सुख दुःख नहीं दे सकता हूँ सब जीव अपने अपने कर्म के उदयसे ही सुखी दुखी होते हैं। मुझको कोई जीव मार सकता या बचा सकता नहीं है क्योंकि शरीरका रहना और नाश होना आयु कर्म के आधीन है; परन्तु मेरा चैतन्य प्राणका नाश कभी भी नहीं होता है, मैं तो अनादि अनंत हूं। मुझको कोई सुखी-दुखी कर नहीं सकता है क्योंकि बाह्य सामग्रीका मिलना साता असाता कर्मके उदयके आधीन है परन्तु सुख दुखका भाव करना मेरे पर ही निर्भर है।

अर्हन्त वीतराग देव या निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि गुरु भी मेरी आत्मा का कल्याण नहीं कर सकते हैं, क्योंकि मेरा चैतन्य प्राण से वे अत्यन्त भिन्न हैं मेरा कल्याण अकल्याण करने वाला मैं ही हूं।

संसारके कोई भी पदार्थ इष्ट-अनिष्ट नहीं हैं; क्योंकि वह सब पदार्थ मेरी आत्मासे भिन्न है। दुःखका मात्र कारण रागादिक भाव हैं और सुखका कारण मात्र वीतराग भाव है।

इस प्रकारके रुचि पूर्वक भावका नाम मिथ्यात्वका संवर है।

कषायका संवर—पर जीवोंको मारनेका भाव पाप भाव था और पर जीवोंको बचानेका भाव पुण्य भाव था। यह दोनों भाव तो कषाय भाव हैं। पांच इन्द्रिय के विषय इकट्ठा करने का भाव तथा भोगनेका भाव पाप रूप कषाय भाव हैं। अरहन्त वीतराग देवकी भक्तिका भाव-पात्र जीवको आहार आदि दान देनेका भाव, गुरुकी भक्तिका भाव पुण्य भाव है वह भी बन्धन भाव हैं। अणुव्रत ग्रहण करने का भाव, महाव्रत ग्रहण करनेका भाव, समितिका पालन करनेका भाव, व्यवहार मन गुप्ति-वचन गुप्ति और काय गुप्तिका भाव, दश प्रकारके व्यवहार मुनि धर्मके भाव, द्वादश अनुप्रेक्षा भावनाका भाव, एवं बाईस परिषह जीतनेका भाव यह सभी भाव पुण्य भाव हैं वह भी बन्धन रूप कषाय भाव हैं। व्यवहार धर्म ध्यान रूप आज्ञाविचय अपायविचय विपाक विचय और संस्थान विचय रूप चिन्तवन-रूप पुण्य भाव भी बन्धन रूप कषाय भाव हैं यह सब भावोंका अभाव अथवा क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य रति, अरति शोक भय जुगुप्सा पुरुषवेद स्त्रीवेद भाव और नपुंसकवेद भावका सम्पूर्ण प्रकारसे अभाव होजाना यही

कपायका संवर है। कपायका संवर भाव ही सुखका कारण है या सुख रूप ही है।

योगका संवर—आत्म-प्रदेशोंका कम्पन मिट जाना यही योगका संवर है। यह संवर चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में हो जाता है बाद में लघु काल में आत्मा सर्व कर्मों से रहित होकर अपने अनंत गुणों की शुद्धता हो जाने से सिद्ध पदको पाता है या सिद्ध हो जाता है।

जड संवर—जिस प्रकार चेतन संवर तीन प्रकार का है उसी प्रकार जड संवर तीन प्रकार का नहीं है। जड संवर अनेक प्रकार का है। जितनी जितनी कर्म प्रकृतियों का बन्ध रुक जाना उसी का नाम जड संवर है जैसे पहले गुणस्थान के अभाव में १६ प्रकृतियों का बन्ध रुक जाना जड संवर है। दूसरे गुणस्थान के अभाव में पचीस प्रकृतियों का बन्ध रुक जाना दूसरा जड संवर है इत्यादि।

निर्जरा तत्व—निर्जरा दो प्रकार की होती है। (१) चेतन निर्जरा (२) जड निर्जरा। जिसको शास्त्रीय भाषा में भाव निर्जरा और द्रव्य निर्जरा कहते हैं।

चेतन निर्जरा—मिथ्यात्व का संवर हुए बाद ही चेतन निर्जरा का प्रारंभ होता है। यथार्थ में विचारा जायतो

चारित्र गुण की अंश-अंश में शुद्धता होना उसी का नाम निर्जरा है। अथवा आत्मा के गुणों की अंश २ में शुद्धता होना निर्जरा है। श्रद्धा गुण में अंश २ में शुद्धता नहीं होती है। क्योंकि श्रद्धा का कार्य लक्ष्य बिंदु प्रतीति-विश्वास आदि है और लक्ष्य बिंदु अनेक प्रकार का नहीं होता है इसलिये श्रद्धा में निर्जरा नहीं होती है। चाहे तो श्रद्धा असत्य हो चाहे श्रद्धा सत्य हो। इसी प्रकार योग गुण में भी चेतन निर्जरा नहीं होती है परन्तु एक साथ में इसमें शुद्धता आती है चाहे तो योग गुण कम्पन रूप हो चाहे अकम्प रूप हो। परन्तु चारित्र गुण में इच्छाओंका एक साथ में नाश नहीं हो सकता है अपितु अंश २ में नाश होता है इसलिये सिद्ध होता है कि यथार्थ में निर्जरा चारित्र गुण में ही होती हैं। अर्थात् अंश २ में इच्छा का अभाव होना इसी का नाम चेतन निर्जरा है।

उपवास आदि बाह्य और प्रायश्चित आदि अभ्यंतर तपसे निर्जरा नहीं होती है परन्तु इससे तो मात्र पुण्य बन्ध पडता है क्योंकि तप में अर्थात् अनशन में इच्छा का अभाव नहीं होता है परन्तु इच्छा दब जाती है अर्थात् आज आहार नहीं करना है परन्तु कल करने का भाव है। इससे एक दिन के लिये इच्छा दब गई है परन्तु इच्छा का

अभाव नहीं हुवा है। जहां २ इच्छा दब जाती है वहां २ नियम से पुण्य बन्ध पडता है और जहां २ इच्छा का अभाव होता है वहां २ निर्जरा है।

शंका—उपवास में एक दिन के लिये इच्छा का निरोध हुआ है वहाँ निर्जरा कैसे नहीं मानी जायगी ? शास्त्र में भी लिखा है कि 'तपसा निर्जरा च'।

समाधान—तपका लक्षण इच्छा निरोध कहा है वहां इच्छा निरोध का अर्थ इच्छा दबाना नहीं कहना चाहिये परन्तु इच्छाका जीवन भर अभाव होजाना इसी का नाम निर्जरा है। जैसे एक सम्यग्दृष्टि आत्माने ५० हरी वनस्पति खाने का नियमकर बाकी की हरी वनस्पतिकायका जीवन भर त्याग कर दिया। जो ५० वनस्पति रखी है वे सभी सहज ही में मिलती नहीं हैं जिससे उसने विचार किया कि इतनी हरीतो मिलती थी तब बिना प्रयोजन इतनी हरीकी वासना क्यों रखनी ? यह समझ कर उसने उन्हीं ५० हरी वनस्पतियों में से मात्र १५ खाने की रखकर बाकी के ३५ हरी वनस्पति का अमुक मास के लिये त्याग कर दिया। अब सोचिए जितनी हरितकायिकका उसने जीवन भर त्याग कर दिया है वही तो निर्जरा का भाव है और जो ३५

तक यिकका अमुक मास के लिये त्याग किया है वह तो पुण्य भाव है; क्योंकि उस भाव में इतने दिन बाद यह वनस्पति खाने का भाव है। इससे सिद्ध हुवा कि वह वनस्पति खाने के भाव का अभाव नहीं हुवा है परन्तु अमुक मास तक वह भाव दबा हुवा है, उस दबे हुए भाव का नाम चेतन पुण्य भाव है और जो १५ हरितकायिक खा रहा है वह तो पाप भाव है। इससे सिद्ध हुआ कि अनशन आदि भावों में इच्छा अमुक दिन तक दब जाती है परन्तु इच्छा का अभाव नहीं होता है। इसलिये सिद्ध हुवा कि अनशनादि तप से निर्जरा नहीं होती है परन्तु पुण्य बन्ध पडता है।

जब तक आत्मा में मिथ्यात्व का अभाव रूप सम्यग्दर्शन भाव रूप संवर नहीं होता है तब तक आत्मा में चेतन निर्जरा नहीं होती है। मिथ्यात्व का संवर हुवे पहले जितनी इच्छाओं का मिथ्यादृष्टि जीव जीवन भर के लिये अभाव करता है उसी अभाव रूप भाव से भी मिथ्यादृष्टि को निर्जरा नहीं होती है परन्तु मात्र पुण्य बन्ध पडता है। इसीसे तो कहा जाता है कि मिथ्यादृष्टि का तप हस्थि-स्नान जैसा है क्योंकि सम्यग्दर्शन हुए बाद ही निर्जरा आरंभ होती है यही तो सम्यग्दर्शन की महिमा है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तप से या दान से नहीं होती है परन्तु मात्र ज्ञान से ही होती है। मिथ्यादृष्टि लाखों करोडों वर्ष तप तपे; परन्तु इससे मिथ्यात्व का नाश नहीं होता है, मात्र पुण्य बन्ध पडता है। जैसे नारायण लक्ष्मण की पत्नी विशल्या ने पूर्व भव में महान तपश्चर्या की थी। अर्थात् एकमास का उपवास एक दिन पारणा इसी प्रकार एक लाख मास का उपवास किया। इतने महान तप के फल में इस को यह ऋद्धि प्राप्त हुई कि इस के स्नान के जल से (गंधोदक से) मनुष्य को लगी हुई दैवीशक्ति भी चली जाती थी। जिस प्रयोग से इसने नारायण लक्ष्मण को मूर्च्छा में से दैवी-शक्ति से बचालिया, परन्तु इतने तप में यह शक्ति प्राप्त न हुई कि विशल्या के मिथ्यात्व भावको नाश कर सके। यदि विशल्या के मिथ्यात्व का नाश होता तो वह स्त्री पर्याय में कैसे जन्म लेती ? इससे सिद्ध हुवा कि मिथ्यात्व का नाश तप से नहीं होता है परन्तु ज्ञान से होता है। इसी कारण विशल्याको इतने तपसे भी निर्जरा न हुई परन्तु मात्र पुण्य का ही बन्ध हुवा।

सम्यग्दर्शन हुए बाद इच्छा का अभाव होना इसी का नाम चेतन निर्जरा है।

जड़ निर्जरा—आत्मा के साथ में जो पौद्गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों का काल की मर्यादा पूरी होने से अथवा कालकी मर्यादा पूरी हुए विना अंश अंश में आत्मा से अलग हो जाना इसी का नाम जड निर्जरा है।

जड निर्जरा में दो प्रकार का भेद है। (१) सविपाक निर्जरा (२) अविपाक निर्जरा।—

सविपाक निर्जरा—इसको कहते हैं कि ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंका कालकी मर्यादा पूर्ण होने से आत्म-प्रदेशों से खिर जाना उसी का नाम सविपाक निजरा है। यह निर्जरा सर्व संसारी जीवों को समय २ में हो रही है।

अविपाक निर्जरा—जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य कर्मों का जिन की काल की मयोदा पूरी न हुई है परन्तु आत्मा के विशुद्ध भावों से उन कर्मों के काल की मयोदा के पूर्व अंश २ में आत्म-प्रदेशों से खिर जाना उसी का नाम अविपाक निर्जरा है। यह निर्जरा मिथ्यादृष्टि जीवों के भी होती है। जैसे जिस काल में मिथ्यादृष्टि के प्रायोग लब्धि रूप परिणाम होता है उसी काल में सत्तर कोडा कोडी के कर्मों का वन्ध टूटकर अन्त कोडा कोडी में आजाता है। यह तो अविपाक निर्जरा है। इस निर्जरा

से भी आत्मा में शान्ति नहीं मिलती है। यथार्थ में निर्जरा समयग्दर्शन पूर्वक ही होवे वही निर्जरा शान्ति का कारण है।

मोक्ष तत्व—मोक्ष दो प्रकार का है। (१) चेतन मोक्ष (२) जड मोक्ष। जिसको शास्त्रीय भाषा में भाव मोक्ष और द्रव्य मोक्ष कहते हैं।

चेतन मोक्ष—आत्मा के संपूर्ण गुणों की शुद्धता हो जाना उसी का नाम चेतन मोक्ष है।

आत्मा और बन्ध का जुदा करना मोक्ष है। बन्ध का कारण आत्मा के श्रद्धा गुण-चारित्र गुण और योग गुण की विकार परिणति है। उन गुणों का शुद्ध परिणमन हो जाना वही मोक्ष का यथार्थ कारण है।

बंध के स्वरूप का ज्ञान मात्र से ही मोक्ष होता है, अर्थात् बंध का स्वरूप जानना ही मोक्ष का कारण है, ऐसा निश्चयाभासी वेदान्त आदि जीव मानते हैं। उनका ऐसा मानना मिथ्या है। क्योंकि ऐसा अनुमान का प्रयोग है कि कर्म से बन्ध पुरुष के स्वरूप का ज्ञान मात्र ही मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि मात्र यह जानना कर्म से छूटने हेतु नहीं है। जैसे बेडी आदि से बन्द पुरुष के उस बेडी आदि के

बंधन के स्वरूप को जानना मात्र ही बेडी आदि कटने का कारण नहीं है, उसी तरह कर्म का बंधन का स्वरूप जानने मात्र से कर्म बन्धन से नहीं छूटता। बंधकी चिन्ता भी बन्ध से छूटने का अर्थात् मोक्ष का कारण है-यह मानना भी मिथ्या है, यहां भी अनुमान का प्रयोग ऐसा है कि कर्म बन्धन कर बन्धे हुए पुरुष के उस बन्ध की चिन्ता का जो प्रबन्ध है कि यह बन्ध कैसे छूटेगा? इस रीति से मनको लगाये वह भी बन्ध के उच्च भाव रूप मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि यह चिन्ता का प्रबन्ध मे छूटने का हेतु नहीं है। जैसे बेडी (सांकल) से बन्धा हुआ पुरुष उस बन्ध की चिन्ता ही किया करे और छूटने का उपाय न करे तो उस बेडी आदि बन्धन से वह पुरुष छूट नहीं सकता। उसी तरह कर्म बन्धन की चिन्ता मात्र से मोक्ष नहीं है। कर्म बन्धन को छेदना मात्र मोक्ष का कारण है। जैसे बेडी (सांकल) आदि द्वारा बन्धे पुरुष को सांकल का बन्ध काटना ही छूटने का कारण है। ऐसे जो पुरुष आत्मा के निश्चय कर निर्विकार चैतन्य चमत्कार मात्र तो आत्मा का स्वभाव और उस आत्मा के विकार के करने वाला बन्धों का स्वभाव इन दोनों को विशेष कर जानकर उस बन्धनों से विरक्त करता है वही पुरुष समस्त कर्मों का नाश कर मोक्ष को प्राप्त होता है।

जड़मोक्ष—अनादिकाल से जो ज्ञानावरणादि पौद्गलिक द्रव्य-कर्म आत्मा के साथ में एक क्षेत्र में बन्धन रूप से हैं इसीका आत्म-प्रदेशों से अत्यन्त अभाव हो जाना अर्थात् पुद्गल की उस कर्म रूप अवस्था का मिट जाना वही जड मोक्ष है।

इस प्रकार सप्त तत्त्वका स्वरूप पूर्ण हुआ। सप्त तत्त्व में जीव तथा अजीव तत्त्व तो ज्ञेय रूप हैं, आश्रव एवं बन्ध तत्त्व हेय रूप हैं और संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्त्व उपादेय रूप हैं।

सर्व प्रथम जीव को मोक्षमार्ग में आने के लिये सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे शास्त्र का विश्वास एवं ज्ञान करना चाहिये। इस के ज्ञान विना जीव गृहीत मिथ्यात्व का नाश नहीं कर सकता है। वह गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यात्वको प्रकट करने वाला है। इसलिये इसका स्वरूप जानना बडा ही जरूरी है। सामान्य से अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से हमारी आत्मा में और देवकी आत्मा में किंचित् फर्क नहीं है; क्योंकि दोनों चेतन स्वरूपी हैं। जितना गुण हमारी आत्मा में है उतना ही गुण देवकी आत्मा में है। परन्तु हमारी पर्याय-अवस्था में और देवकी पर्याय-अवस्था

में महान् अंतर है। इसका यथार्थ ज्ञान किये बिना देव में भक्ति कैसे हो सकती है ?क्योंकि भक्ति का स्वरूप गुण में अनुराग है, जब देव में क्या गुण प्रगट हुए हैं इसका ज्ञान किए विना देवकी भक्ति मात्र राग में राग से ही होगी; परन्तु गुण में अनुराग रूप भक्ति नहीं होती है, और गुण में अनुराग रहित भक्ति मात्र संसार वर्धक ही है। इसलिये देवादिकका स्वरूप प्रथम जानने की बड़ी आवश्यकता है । देव का स्वरूप भाव की अपेक्षा से कर्मकी अपेक्षासे, मार्गणा स्थान की अपेक्षासे इसी प्रकार अनेक प्रकार से जानने से श्रद्धा विशेष निर्मलता के साथ दृढ होती है। जिसकी श्रद्धा यथार्थ नहीं है वह जीव मोक्ष मार्ग में आ नहीं सकता है, इसलिये सर्व प्रथम अपनी श्रद्धा मजबूत करनी चाहिये।

अर्हंत-देवका स्वरूप—भाव से अर्हंत देवका यह स्वरूप है कि जिसने मनुष्य गति में पंचेन्द्रिय जाति के साथ त्रस पर्याय पाई है, जिसकी आत्मा के भीतर क्षायक सम्यग्दर्शन है, जिसमें यथाख्यात चारित्र रूप वीतराग भाव हैं, जिसने क्षायक केवलज्ञान तथा केवल दर्शन की प्राप्ति की है, जिसे अनंत वीर्य की प्राप्ति हुई है, जिसे अनंत सुख प्राप्त हुआ है, जिसका शरीर परम औदारिक

है, जिसमें सप्त धातु रूप अपवित्र वस्तु नहीं है जिसकी वाणी में सहज सत्य तथा अनुभव रूप वचन वर्गणा में द्वादश अंग अर्थात् संपूर्ण द्रव्य श्रुत रूप समय समय में खिर रही है, जिसके द्वारा भव्य जीव अपना कल्याण कर रहा है, जो देव १८ अठारह दोषों क्षुधा, पिपासा, रोग जरा आदि से रहित है जिस देवने अष्ट प्रकार के पौद्गलिक ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्मों में से चार कर्म जो घातिया कर्म कहलाते हैं, उनका अभाव किया है, जिसने कर्मों की १४८ उत्तर प्रकृतियों में से ६३ कर्म प्रकृतियों का नाश करदिया है, जिसके पास में चार अघाति कर्म जिनकी ८५ प्रकृति है वही मात्र सत्ता में हैं तो भी परमात्मा के अनंत सुख आदि गुणों में विघ्न देने के लिये शक्तिहीन है। ऐसे ही देव की भक्ति करने योग्य है। वही संसारी आत्माको कल्याण करने में निमित्त मात्र है। वही देव आराधना करने योग्य है।

शंका—जिस आत्माने अनंत ज्ञान दर्शन वीर्य-सुख प्राप्त किया है वह आत्मा संसार में क्यों रहता है ? क्या अघातिया कर्मोंने उसे रोक रखा है ?

समाधान—नहीं, आत्मा में अनंत गुण शक्तियां हैं, और वे सब गुण स्वतंत्र हैं, कोई भी गुण किसी भी गुण

के आधीन नहीं है, सर्व गुण अपने २ उपादान से ही परिणमन करते हैं। ऐसा वस्तु का स्वभाव है। इन सब गुणों को शास्त्रीय भाषा में दो भेद रूप कहा गया है। (१) भाववती शक्ति (२) क्रियावती शक्ति। अर्हन्त वीतराग देव की शक्तियां शुद्ध परिणमन कर रही हैं, जिस कारण से तो अर्हन्त परमात्मा में अनंत ज्ञान आदि अनंत चतुष्टय प्राप्त हुवा है, परन्तु अर्हन्त परमात्मा की क्रियावती शक्तियां अभी भी अशुद्ध परिणमन कर रही हैं जिससे भगवान का मोक्ष नहीं हुआ है। अघातिया कर्मोंने भगवान को रोक रखा है, यह कहना मात्र उपचार है-निमित्तका कथन है। भगवान अर्हन्त की क्रियावती शक्तियों में योग गुण, निष्क्रियत्व गुण, अव्याबाधगुण, अवगाहनगुण, सूक्ष्मत्वगुण, अगुरुलघुगुण, अमूर्तादि अनेक गुण हैं। जब इन गुणोंका शुद्ध परिणमन होगा तब अरहन्त परमात्मा सिद्धावस्था को प्राप्त होंगे।

मार्गणा द्वारा अर्हंत देवका स्वरूप—

मार्गणा द्वारा अर्हन्त देवका किस प्रकार का स्वरूप चिन्तवन करना चाहिये या उनके गुणों में अनुराग करना चाहिये यह विचारना चाहिये। मार्गणा चौदह हैं। (१) गतिमार्गणा (२) इन्द्रियमार्गणा (३) कायमार्गणा (४) योग

मार्गणा (५) वेद मार्गणा (६) कषाय मार्गणा (७) ज्ञान-मार्गणा (८) संयम मार्गणा (९) दर्शन मार्गणा (१०) लेश्या मार्गणा (११) भव्यत्व मार्गणा (१२) सम्यक्त्व मार्गणा (१३) संज्ञी मार्गणा (१४) आहार मार्गणा।

गतिमार्गणा—गति चार हैं-मनुष्यगति-देवगति-तिर्यंचगति और नरक गति। यह चारों पुद्गलकी अवस्था संयोग रूप हैं। हे भगवन्! आपको भी मनुष्यगति मिली है जब कि मुझे भी मनुष्यगति मिली है, पर मैं पराधीन हूँ।

इन्द्रिय मार्गणा—इन्द्रियाँ पांच होती हैं। (१) स्पर्शन (२) रसाना (३ घ्राण (४) चक्षु (५) श्रोत्र इन्द्रिय। यह सब पुद्गल की ही रचना है। हे प्रभो आपको भी पांच इन्द्रिय मिली हैं परन्तु आपकी इन्द्रियां निकम्मी अकार्यकारी हैं नाम मात्र हैं, क्योंकि आपतो अपने सर्व आत्म प्रदेशों से लोकके चराचर समस्त पदार्थों को एक समय में बिना इन्द्रियों की सहायता से देखते हैं किन्तु मैं इन्द्रियों द्वारा स्थूल पुद्गल पदार्थों को स्थूल रूपसे देखता हूँ, इसलिए मैं पराधीन हूँ।

काय मार्गणा—काय छह होती हैं। (१) पृथ्वीकाय (२) अपकाय (३) तेजकाय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय

(६) त्रसकाय। इन सब कायों की रचना पुद्गल द्रव्य की है। हे भगवन्! आपको त्रस काय मिली है और मुझे भी त्रस काय मिली है, परन्तु आपकी काय परम औदारिक है जिसमें त्रस निगोद राशि नहीं है, जब मेरी काय सप्त धातु से भरी हुई, असंख्यात त्रस निगोद राशि से भरी हुई है, जो महान अशुचिमय है।

योग मार्गणा—योग १५ हैं। चार वचनयोग-(१) सत्य वचन (२) असत्यवचन (३) उभय वचन (४) अनुभय वचन। चार मनोयोग—(१) सत्य (२) असत्य (३) उभय (४) अनुभयमनोग। सात काय योग—(१) औदारिककाययोग (२) औदारिक मिश्रकाययोग (३) वैक्रियिक काययोग (४) वैक्रियिक मिश्रयोग (५) आहारक काययोग (६) आहारक मिश्र (७) कार्माण काययोग। इस प्रकार योग १५ हैं। यह पुद्गल द्रव्य की संयोगी अवस्था है। हे प्रभो! आप में दो वचन योग (१) सत्य वचन. योग (२) अनुभय वचनयोग है। इन दोनों वचनों द्वारा सहज स्याद्वाद रूप वचन वर्गणा कर्म के उदय के कारण सपूर्ण द्रव्य श्रुत समय समय खिर रही हैं, जिसको जिज्ञासु जीव सुनकर अपना कल्याण कर रहे हैं, और एक औदारिक काय योग है, जब मेरे में चार वचन योग

(६) जुगप्सा (७) स्त्रीवेद भाव (८) पुरुषवेद भाव (९) नपुंसक-वेद भाव। यह सब मिलाकर २५ कषाय के भाव हैं। हे प्रभो! आप इन समस्त कषाय भावों का नाश कर वीतराग दशा रूप अनंत सुख के भोक्ता बने हो जब कि मेरी आत्मा में वर्तमान में प्रत्याख्यान संज्वलन क्रोध मान माया लोभ तथा नोकषाय मिलकर सत्रह कषाय भाव हैं जिनसे मेरी आत्मा महान आकुलताका ही अनुभव कर रही हैं।

ज्ञान मार्गणा—ज्ञान ८ प्रकार का होता है। (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्ययज्ञान (५) केवल ज्ञान तथा तीन कुज्ञान (१) कुमतिज्ञान (२) कुश्रुत ज्ञान (३) कुअवधिज्ञान। इस प्रकार ज्ञानकी ८ आठ अवस्था होती हैं। हे भगवन्! आपमें केवल ज्ञान है जिससे आप लोकालोक के समस्त चल-अचल पदार्थों को त्रिकालवर्त्ती अनंत पर्यायों को अपने आत्मा के समस्त प्रदेशों से प्रत्यक्ष देख रहेहो। जब मैं केवल साधारण मति श्रुत ज्ञान से इन्द्रियों द्वारा देख रहा हूँ वे भी इतने हीन हैं कि पांच मिनिट की बात को भी धारणा ज्ञान में रहती ही नहीं है जिससे महान दुःखी हूँ।

संयम मार्गणा—संयम ७ है। (१) असंयम (२) संयमासंयम (३) सामायिक संयम (४) छेदोपस्थापना संयम (५) परिहार विशुद्धि संयम (६) सूक्ष्मसांपराय संयम (७) यथाख्यात संयम। यह सब चारित्र गुण की पर्याय हैं। हे प्रभो! आपमें मात्र यथाख्यात संयम है जिस कारण से आपको वीतराग दशा प्राप्त हो रही है जिससे आप अनाकुल आत्मिक सुख का अनुभव कर रहे हो और मुझे केवल संयमासंयम भाव की वर्तमान में प्राप्ति हुई है जिससे भगवन् मैं कषाय से महा दुःखी हूँ।

दर्शन मार्गणा—दर्शन ४ चार है। (१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षुदर्शन (३) अवधि दर्शन (४) केवल दर्शन। ये चारों दर्शन चेतना की अवस्था है। हे भगवन्! आप में केवल मात्र केवल दर्शन है जिससे आप समस्त संसार के पदार्थों को अखण्ड रूप से सामान्य अवलोकन से ही अपने समस्त आत्म-प्रदेशों से निरपेक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष कर रहे हो जब मेरी आत्मामें चक्षु दर्शन तथा अचक्षु दर्शन रूप दर्शन चेतना की पर्यायें प्रगट हुई हैं वह भी महान पराधीन इन्द्रियों के विना देख नहीं सकता हूं। उसमें भी स्थूल पुद्गल को ही देख सकता हूँ, जिससे महान दुःखी हूँ।

लेश्या मार्गणा—लेश्या छह होती है। (१) कृष्ण-लेश्या (२) नीललेश्या (३) कापोत लेश्या (४) पीत लेश्या (५) पद्म लेश्या (६) शुक्ल लेश्या। यह आत्माकी प्रवृत्ति का नाम है। हे प्रभो! आपमें कहने मात्र को परम शुक्ल लेश्या है जो आपको किंचित् मात्र दुख का कारण नहीं है, मेरे में तीन शुभ लेश्या हैं जिससे मेरी आत्मा पुण्य पाप भाव प्रवृत्ति कररहा है जिससे मैं महान् दुःखी हूं।

भव्यत्व मार्गणा—भव्यत्व मार्गणा दो प्रकार की है। (१) भव्यत्व (२) अभव्यत्व। ये दोनों आत्मा के श्रद्धा-गुण की सहज स्वाभाविक पर्याय अनादिकाल की है। जिस कारण उसी को पारणामिक भाव कहा जाता है। हे भगवन्! आप में इन दोनों भावों का अभाव हो गया हैं कारण कि आपमें यथार्थ से क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई है परन्तु मेरे में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन होने से यह भव्यत्व भावका सद्भाव हो रहा है।

सम्यक्त्व मार्गणा—यह मार्गणा छह प्रकार की है। (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) उपशम (५) क्षयोपशमिक (६) क्षायिक मार्गणा। ये सब आत्मा के श्रद्धा गुण का परिणाम है। हे भगवन्! आप

में क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई है जब मेरे में क्षयोपशम सम्यक्त्व है जो महान हीनस्थितिवाला है जिसमें मुझे शूक्ष्म चल मल अगाढ नामका दोष लगता है। वह इस प्रकार का मलीन होने से श्रेणी पर आरूढ होने की मुझमें शक्ति प्राप्त होती ही नहीं है कि जिससे संपूर्ण अनंत सुख की प्राप्ति कर सकूं।

संज्ञी मार्गणा—यह मार्गणा दो प्रकार की है। (१ संज्ञी (२) असंज्ञी। यह संज्ञीपणा पुद्गल की पर्याय है। जो ज्ञान करने में सहायक होती है इसके बिना यथार्थ ज्ञान करने में आत्मा छद्मस्थ अवस्था में शक्तिमान होता ही नहीं है। हे प्रभो! आपके तो क्षायक ज्ञान की प्राप्ति हो जाने से आप तो संज्ञी असंज्ञी के विकल्प से परे हो चुके हो, परन्तु मेरे में क्षयोपशम ज्ञान होने से मैं संज्ञी हो रहा हूँ जिससे महान पराधीन हूँ। यदि यह पौद्गलिक मन बिगड जावे तो मैं तो प्रभु कोडी की कीमत हो जाता हूँ, क्योंकि ज्ञान मेरे में होते हुए भी मैं यथार्थ में इस द्रव्य मन बिना विचार कर ही नहीं सकता। इसी कारण तो मेरे में ज्ञान होते हुए भी अज्ञान कहा जाता है क्योंकि ज्ञान इसी का नाम है जो लोकके समस्त ज्ञेय पदार्थों को एक ही समय में देखे। परन्तु मेरा ज्ञान महा हीन पराधीन

असंख्यात समय में उपयोग में आता है। ऐसा हीन है जिससे महान पराधीन हूँ।

आहारक मार्गणा—यह मार्गणा दो प्रकार की है। १ आहारक २ अनाहारक। यह तो पुद्गल की अवस्था है। हे प्रभो अभी आप भी आहारक हैं क्योंकि आप के पौद्गलिक परम उदारक शरीर भी समय समय में अनंत पुद्गल वर्गणा ग्रहण करता है यद्यपि आपको कवलाहार नहीं है जिससे आप क्षुधा आदि महान दुःखों से मुक्त हो। परन्तु मैं भी आहारक हूँ अर्थात् मेरा सप्त मलीन धातु मय औदारिक शरीर भी समय समय में अनंत पौद्गलिक वर्गणा ग्रहण करता है, इतना नहीं परन्तु मैं तो कवलाहार भी लेता हूँ क्योंकि क्षुधा की पीडा सहन न होने से उसके विना नहीं चलसकता इसलिए क्षुधा पीडा से महान दुःखी हूँ और आप अनंत सुख के भोक्ता हैं।

इसी तरह पृथक् २ अपेक्षासे देव का निर्णय जरूर करना चाहिये। क्योंकि हमको भी एक दिन देव बनना है। जिसको देवका द्रव्य गुणपर्याय का ज्ञान नहीं है वह आत्मा मोक्षमार्गी नहीं हो सकता है। इसलिये सत्यार्थ देव का स्वरूप द्रव्य गुण पर्याय द्वारा जानकर पक्का श्रद्धालु

बनना चाहिये। यही बात भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने भी प्रवचनसार के ज्ञान तत्त्व अधिकार में गाथा ८० में कही है कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥

अर्थ—जो अर्हंत को द्रव्य गुण पर्याय रूप से जानता हैं वह अपनी आत्मा को जानता है, और उसीका मोह अवश्य नाशको प्राप्त हो जाता है।

यहां प्रसंगवश कुछ अभिषेक के संबंध में लिख रहा हूँ। अर्हंत सर्वज्ञ वीतराग देवका यथार्थ में अभिषेक होता ही नहीं है। समवशरण में जो बारह सभायें हैं उनके मध्य भाग में उनसे बहुत ऊंचे अर्हंत भट्टारक तीन वेदी के ऊपर कमल पुष्प के भी अन्दर विराजमान हैं। वहां प्रथम तो किसी के जाने का अधिकार नहीं है। दूसरे वहां अभिषेक होता ही नहीं है। अभिषेक तो नियम से सरागी आत्मा के गृहस्थ अवस्था में ही होता है। जब गृहस्थ मुनि दीक्षा ग्रहण करता है तब स्नानादि से स्वयं विरक्त हो जाता है, तब वीतराग अवस्थामें अभिषेक मानना महान विपरीतता है। गृहस्थ की निम्न कक्षा में जब अवलम्बन

की आवश्यकता रहती है तब अवलम्बन के लिये वीतराग सर्वज्ञ की प्रतिमा स्थापित की जाती है। यह वीतराग प्रतिमा मलीन न हो जावे, उसकी सौम्यावस्था बनी रहे, उस प्रतिमा पर सूक्ष्म जीव जंतु व धूलकण का संचय न होने पाये इस उद्देश से प्रतिमा का प्रक्षालन किया जाता है। यदि प्रतिमा स्वच्छ नहीं होगी तो हमारे परिणामों को अधिकाधिक निर्मल बनाने में बाधा हो सकती है। इस दृष्टि से प्रतिमाको स्वच्छ रखना प्रत्येक पुरुष का परम कर्तव्य हो जाता है। प्रतिमा जितनी अधिक सौम्य व वीतरागता पूर्ण होगी इतना ही दर्शक व पूजक का भाव निर्मल व अधिक सौम्य व वीतरागयुक्त हो सकता है।

इन्द्र ने भगवान का द्रव्य निक्षेप से अभिषेक किया था जो भगवन के जन्म के समय करना देवों का नियोग ही है। इस अभिषेक में मनुष्य जा नहीं सकता है। कारण कि सुमेरु पर्वत लाख योजन ऊँचा है और ७९० सातसो नव्वे योजन ऊँचा जाने में वैक्रियिक शरीर की जरूरत पडती है कारणकि इतना ऊँचा औदारिक शरीर जा नहीं सकता है। वहाँ की हवा औदारिक शरीर के अनुकूल नहीं है जिससे वहां जाने का मनुष्य का अधिकार एवं शक्ति भी नहीं है जिससे इन्द्र मायामयी बालक माता के पास में

रख कर तीर्थंकर को सुमेरु पर्वत पर अभिषेक के लिये ले गये थे। यदि मनुष्य वहां जा सकते हैं तो कमसे कम भगवान के माता पिताको तो जरूर वे ले जाते, परन्तु ऐसा न कर बालक को ही केवल चोरी छुपी से लेगए। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य का औदारिक शरीर वहां जा ही नहीं सकता। भगवान के पुण्य के अतिशय के कारण उनका औदारिक शरीर वहाँ जाने में बाधा नहीं है।

अभिषेक करने का भाव पुण्य भाव है। सरागी जीवों को ऐसा पुण्य का भाव आसकता है कि मैं भी भगवान का अभिषेक करूँ। यही सोचकर सरागी जीव उसी वीतराग मुद्रा प्रतिमा में बालक की स्थापना कर अपने में भी इन्द्र की स्थापना कर अभिषेक रूप भाव कर सकता है। परन्तु अभिषेक करते समय ऐसा भाव नहीं होना चाहिये कि मैं मनुष्य हूँ। इससे सिद्ध हुवा कि मनुष्यको अभिषेक करने का अधिकार नहीं है केवल इन्द्र को ही अभिषेक करने का अधिकार है। इसी प्रकार मनुष्य भी अभिषेक कर सकता है परन्तु ऐसी मिथ्या कल्पना न करे कि मैं वीतराग देवका अभिषेक कर रहा हूं परन्तु वीतराग की कुमार अवस्था का अभिषेक कर रहा हूं यह भी इन्द्र की अपने में स्थापना करके ही कर सकता है यह भी पुण्य भाव है।

निर्ग्रन्थ गुरु का स्वरूप—जो आत्मा नग्न दिगम्बर रूप जिसने १४ प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह का श्रद्धान रूप त्याग किया है, परन्तु आचरण रूप जिसको मात्र संज्वलन कषाय नौ कषाय रूप भाव हैं और बाह्य में १० दसवें प्रकार परिग्रह का त्याग है अर्थात् जिसके पास एक सूत मात्र परिग्रह नहीं है जिसका शरीर तुरन्त के जन्मे हुए बालक के माफिक नग्न एवं विकार रहित है, ऐसा निश्चय-व्यवहार रूप रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र युक्त है वही तो निश्चय से गुरु हैं। परन्तु जिसने अनंतानुबन्धी आदि कषाय का अभाव नहीं किया है, परन्तु व्यवहार से नग्न दिगम्बर मुद्रा धारी मुनि है जो पंच महाव्रत पंच समिति और तीन गुप्तिका व्यवहार जिन आज्ञा अनुकूल पालन करता है वह व्यवहार गुरु है। वह गुरु कैसा है जो व्यवहार रत्नत्रय युक्त है, जो दश प्रकार के मुनिधर्म अर्थात् उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव सत्य शौच संयम तप त्याग आकिंचन और ब्रह्मचर्य रूप व्यवहार धर्म से नित्य-निरंतर परिणाम सहित होय, जो सुख-दुख तृण-कंचन लाभ-अलाभ शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा और जीवन-मरण में मध्यस्थ है अर्थात् जिसका समभाव रूप वर्ताव है जो बाईस परिषहों को जीतने वाला है. जो देव

मनुष्य और तिर्यंच कृत आए हुए उपसर्ग को सहन करता है परन्तु क्रोधादि अवस्था धारण नहीं करता है, जो उत्तम ज्ञान युक्त है तथा उत्तम तपश्चरण करनेका जिसका स्वभाव है परन्तु जिसकी आत्मा में ज्ञान और तपका मद नहीं है, जो मुनि मन में वक्रता का चिंतवन नहीं करता है, कायसेवक्रता नहीं करता है एवं वचन से वक्रतारूप बोलता नहीं है, जो अपने दोषों को छुपाता नहीं है, ऐसा उत्तम आर्जव धर्म सहित है। जो मुनि समभाव अर्थात् रागद्वेष रहित परिणाम और संतोष रूप परिणामों से तृष्णा और लोभ रूप मलको आने नहीं देता है, जो भोजन की गृद्धि अर्थात् अतिचार से रहित रूप उत्तम शौच धर्म सहित है। जो मुनि जिन वचन के अनुकूल ही बोलते हैं ऐसा उत्तम सत्य धर्म सहित है। जो मुनि स्व तथा पर जीवों की रक्षा में तत्पर हैं ऐसे उत्तम संयम भाव सहित हैं। जो मुनि आलोक तथा परलोक की अपेक्षा रहित अनेक प्रकार की काय-क्लेश करते हैं ऐसे उत्तम तप सहित हैं। जो मुनि मिष्ट भोजन छोड राग द्वेष के कारण जो बाह्य साधन हैं उस के त्यागी हैं एवं ममत्व के कारण रूप वस्तीका का भी त्याग करने वाले उत्तम त्याग धर्म सहित हैं। जो मुनि मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना पूर्वक सर्व चेतन अचेतन परिग्रह का

त्याग रूप उत्तम आकिंचन धर्म सहित है तथा जो स्त्रियों की संगति न करे ऐसे उत्तम ब्रह्मचर्यधर्म सहित है वह व्यवहार से गुरु है। जो मुनि परिग्रहधारी की संगति नहीं करता है क्योंकि परिग्रहधारी रागी है और मुनि महाराज वीतरागी हैं इसी कारण परिग्रहधारी से दूर जंगलों में ही नियम से रहता है, कारण कि भक्ति करना गृहस्थ का धर्म है और भक्ति राग है जब मुनि महाराज राग से उदासीन हैं इसी कारण दोनों का अलग अलग पंथ होने से मुनि महाराज नियम से जंगलों में ही बसते हैं। जो मुनि महाराज २८ अठाईस मूल गुणों को नियम से पालन करते हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति पांच इन्द्रिय का विजेता, छह प्रकार के आवश्यक धर्म का करण-हार, नग्नता, भूमि शयन, स्नान का अभाव, दंत धावन का अभाव, केशलोंच करना, खडे खडे भोजन लेना और एक वख्त भोजन लेना इसी प्रकार २८ मूल गुणों का पालन-हार हैं।

शंका—मूलगुणों में तो जंगल में मुनि महाराजों का रहना नहीं लिखा है फिर मुनि जंगल में ही रहें ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—मूलगुणों में पांच महाव्रत हैं और वे पंच महाव्रत भावना सहित ही पालन किए जाते हैं। भावना रहित पांच महाव्रत कार्यकारी नहीं हैं। प्रथम भावना बाद में ही भावना का महाव्रत रूप फल है। अचौर्य महाव्रत में क्या भावना है सो विचारना चाहिये। चारित्र पाहुड की गाथा ३४ में कहा है कि—

सुण्णायारनिवासो विमोचितावास जं परोपरोधं च।
असेणसुद्धि सउत्तं साहम्मी संविसंवादं॥

अर्थ—शून्यागार कहिये गिरि गुफा तरु कोटरादि विषै निवास करना, बहुरि विमोचितावास कहिये जो लोग काहू कारणते छोड दिया ऐसा गृह ग्रामादिक तामें निवास करना, बहुरि परोपरोध कहिये पर का जहां उपरोध न कहिये वस्तिकादिककूं अपनाय परकूं वजना ऐसा न करना, बहुरि असेणशुद्धि कहिये आहार शुद्ध लेना, बहुरि साधर्मीनिते विसंवाद न करना यह पांच भावना तृतीय अचौर्य महाव्रत की है।

अब इस भावना बिना अचौर्य महाव्रत का पालन कैसे हो सकता है? इससे सिद्ध होता है कि मुनि महाराज

नियमसे जंगलों में ही रहते हैं। बोध पाहुड में गाथा ४२-४३ में लिखा है कि—

सुण्णहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाणवासे वा
गिरिगुहगिरिसिहरे वा भीमवणे अहव वसति वा॥
सवसासत्तं तित्थं वचचइरालत्तयं च वुत्तेहिं।
जिण भवणं अह बेज्भं जिणमहो जिणवरा विंति॥

अर्थ—छूनाघर-वृत्तका मूल कोटर उद्यान वन, मसाण-भूमि गिरिकी गुफा गिरिका शिखर, भयानकवन, अथवा बस्ती इनिविषे दीक्षा सहित मुनि तिष्ठै है।

बहुरि स्ववशासक्त कहिये स्वाधीन मुनिनि करि आसक्त जे क्षेत्र तिनमें मुनि वसे। बहुरि जहांसे मुक्ति पधारे ऐसे तीर्थस्थान में मुनि वसे। बहुरि चैत्यालय एवं जिन भवन कहिये अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर ऐसे आयतनादिक तिन के समान ही जिनका व्यवहार ताहि जिन मार्ग विषै जिनवर देव दीक्षा सहित मुनिनिके ध्यावनेयोग्य चिंतवन करने योग्य, कहै है। इससे भी सिद्ध होता है कि मुनि महाराज विशेषकर जंगलों में ही रहते हैं। एवं बोध पाहुड में प्रवज्या के स्वरूप के वर्णन करते भी गाथा ५६ में लिखा है कि मुनि कैसी प्रवज्या का पालन करता है कि—

उवसग्ग परिसहसहा णिज्जण देसेहि णिच्च अत्थेई।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहई सव्वत्थ ॥

अर्थ—कैसी है मुनि की प्रवज्या ? उपसर्ग कहिये देव, मनुष्य तिर्यंच अचेतन कृत उपद्रव और परिषह कहिये कर्म योगते आये बाईस परिषह, तिन्हें समभावसे सहना। जो ऐसा प्रवज्या सहित मुनि हैं ते जहां अन्य जन नांहिं ऐसे निजन वनादिक प्रदेश तहां सदा तिष्ठै हैं, तहां भी शिला-तल, काष्ठ भूमितल विषै। इनिसर्वही प्रदेशों के आरोहण कर बैठे, सोवै, सर्वत्र कहनेते वन में ही रहे, अर किंचित्-काल नगर में रहेतो ऐसे ही ठिकाने में नगर के बाहर रहें।

जैन धर्म के सभी तीर्थ क्षेत्र जंगलों में ही क्यों बनाये गए ? इस पर विचार करने से सिद्ध होता है कि जैन दिगम्बर मुनि पहाड एवं जंगल में ही बसते हैं। जिस कारण से इन्हीं मुनियों के निवास स्थान क्षेत्र बनाए गये हैं।

स्वामी कार्त्तिकेयानुप्रेक्षा में भी मुनि महाराज के स्वरूप का वर्णन करते हुए गाथा ४४७ में लिखा है कि—

जो णिवसदि मसाणे, वणगहणे णिज्जणे महाभीमे।
अण्णत्थ वि अयेले तस्स वि अदं तवं होदि ॥

अर्थ—कैसे हैं वे मुनि जो मसान भूमि में, गहन वनमें, जहाँ लोगों का आवागमन न हो ऐसे निर्जनस्थान में, महा भयानक उद्यान-वन में तथा ऐसे एकान्त स्थान में रहते हैं वही मुनि महाराज निश्चयसे विविक्त शैयासन तप वाले हैं।

इससे सिद्ध होता है कि दिगम्बर नग्न मुनि महाराज जगलों में ही निवास करते हैं। वे मुनि पंच महाव्रत का यथार्थ पाल करने वाले, पांच समितिका पालन करने वाले, ईर्या समिति के पालन करने वाले, चार हाथ जमीन सोधनकर, मेरे द्वारा कोई भी जीवकी घात न होजावे, ऐसे रक्षा रूप पुण्य भाव सहित मौन से ही गमन करते हैं। परन्तु बातें करते गमन नहीं करते हैं, क्योंकि एक साथ में दो कार्य नहीं हो सकते हैं। जिस काल में बात बोलना होगा उसही काल में गमन बंधकर खडा रह कर वचन करेगा। इसीका नाम तो ईर्या समिति है। जो पांच इन्द्रिय के जीतने वाले हैं अर्थात् जितेन्द्रिय हैं। जो बाईस परिषह जीतते हैं, जो शीतकाल में नदी के तट पर कायोत्सर्ग कर खडे रहकर शीत परिषह को जीतते हैं, जो उष्ण काल में पर्वत के शिखर पर मध्याह्न में खडे रहकर आतापनयोग में उष्ण परिषह को जीतते हैं, जो वर्षा ऋतु में पेड के नीचे ध्यान मुद्राधर डांस मच्छर

आदिक का परिषह जीतते हैं, ऐसे मुनि महाराज नमस्कार एवं नवधा भक्ति करने योग्य हैं, वेही गुरु हैं। परन्तु जो शीतकाल में घास ओढते हैं एवं अपने निज के लिए बनाई हुई टट्टी आदि में शौच टट्टी जाते हैं, वे मुनि यथार्थ में व्यवहार से भी गुरु नहीं हैं। वे तो दिगम्बर नग्न अवस्था के मात्र वेषधारी हैं, इनकी तो नवधा भक्ति भी की नहीं जाती है।

शंका—वर्तमानकाल में आगमानुकूल पालन करने वाले मुनि देखने में आते नहीं है तो पीछे ऐसे वेषधारीकी भक्ति करने में क्या बाधा है वह हमसे तो अच्छी है।

समाधान—मुनिका ऐसा वेष धारण करना जैसा स्वरूप है वह वस्तुतः स्वरूप नहीं कहा है। मुनितो जो संपूर्णकलाओं से परिपूर्ण हो जाता है उसी को कहा जाता है। हमसे अच्छा है यह मानकर इसकी भक्ति करना उचित मार्ग नहीं है। अमुक् कलावान या गुणवान तो श्रावक भी होता है परन्तु मुनि महाराज तो पूर्णिमा के चन्द्र के समान संपूर्ण कलावान होते हैं। दूज तीज आदि के चन्द्रमाकी तरह मुनि अमुक कलावान नहीं होता है। यही बात चारित्र पाहुड में गाथा २७ में कही है कि—

अवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसिय सयलं ।
सुद्धं संघमचरणं जइधम्मं णिक्कले वोच्छं ॥

अर्थ—कैसा है श्रावक धर्म ? कला सहित है, एक देशकी कला कही । अब यति धर्म का संयमाचरण है उसे कहूँगा । कैसा है निकल कहिये कलाते निःक्रान्त है संपूर्ण है पूर्णिमा के चन्द्र की तरह है, श्रावक धर्म की तरह एक देश नहीं है ।

इससे सिद्ध होता है कि हमसे अच्छा है इससे मुनि मानना यह तो मिथ्याज्ञान है ।

इससे सिद्ध हुवा कि जो आगमानुकूल आचरण करता है वही मात्र गुरु है और ऐसे गुरुकी ही नवधा भक्ति की जाती है । (१) प्रतिग्रहन (पडगाहना) (२) उच्चस्थान (३) पादप्रक्षालन (४) पूजा (५) वंदना प्रणाम (६) मन शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) कायशुद्धि (९) आहारपान शुद्धि । यह नौ प्रकारकी भक्ति मात्र छठवें गुणस्थान धारी मुनि महाराज के ही होती है ।

जिस मुनि महाराज का आगम ज्ञान नहीं है वह तो व्यवहार से भी सम्यगदृष्टि नहीं है । जो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं है उसको व्यवहार से चारित्र भी कैसे

हो सकता है ऐसा जीव बाह्य में नग्न दिगम्बर है तो भी वह व्यवहार से भी मुनि—गुरु नहीं है। प्रवचनसार ग्रन्थ में गाथा २३३ में कहा है कि—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणंतो अट्ठ' खवेदि कम्माणि किय भिक्खु॥

अर्थ—जो श्रमण आगमहीन है वह अपनी आत्मा को एवं पर पदार्थों को नहीं जानता है। ऐसा श्रमण कर्मों का क्षय किस प्रकार करेगा? अर्थात् कर नहीं सकता है। तथा गाथा २३६ में भी कहा है कि—

आगम पुव्वा दिट्ठी ण भव द् जस्सहे संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदिसुत्त' असंजदो होदि किध समणो॥

अर्थ—इस लोक में जिसकी आगम पूर्वक दृष्टि नहीं हैं उसके संयम नहीं है, इस प्रकार सूत्र कहता है तो ऐसा आगम रहित असंयत वह श्रमण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं कहा जाता है।

इससे सिद्ध होता है कि गुरु वही है जिसको आगम-ज्ञान हो, आगम ज्ञान द्वारा तत्वार्थ श्रद्धान हो और तत्वार्थ श्रद्धान के अनुकूल जिसके संयम भाव हो। वही यथार्थ में गुरु है।

शास्त्र का स्वरूप—जिस आगम में परस्पर विरोध-वाली तत्त्व की बातें न हो, जो पदार्थ को अनेकान्त स्वरूप प्रतिपादन करते हैं अर्थात् एक पदार्थ के धर्म को दूसरे पदार्थ में न मिलाये, जैसा धर्म है वैसा ही कहे और जो स्याद्वाद मुद्रा स्वरूप हो, वही सच्चा शास्त्र है। बाकी के शास्त्र नहीं हैं, परन्तु शस्त्र हैं। यही आगम अनादि अनंत है। यही आगम यथार्थ में तीन विभागों में विभक्त किया गया है। (१) करणानुयोग (२)द्रव्यानुयोग (३) चरणानुयोग। आत्मातो ज्ञायक स्वभावी है, परन्तु अनादिकाल से कर्म के संयोग से वैभाविक अवस्था धारण कर रहा है। ऐसा आत्मा का ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक द्रव्य कर्म के साथ किस प्रकारका संयोग है इसीका ज्ञान कराने के लिये करणानुयोग की रचना हुई है। ऐसी आत्मा का रागादिक कर्मों के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध है इसी का ज्ञान कराने के लिये द्रव्यानुयोग की रचना हुई है और ऐसी आत्मा का नोकर्मों के साथ किस प्रकारका सम्बन्ध है इसी का ज्ञान कराने के लिये चरणानुयोग की रचना हुइ है। इससे अथवा द्रव्य कर्म, भावकर्म और नोकर्म छोड कर संसार में और कोई वस्तु है ही नहीं इससे चौथे अनुयोग की जरूरत होती ही नहीं अथवा बना ही

नहीं है। परन्तु पाप भाव में से बचाने के लिये चौथा प्रथमानुयोग—कथानुयोग की रचना हुई है तो भी यह शास्त्र अनादि अनंत नहीं हैं, क्योंकि इसमें अनादि की कथा नहीं आसकती है तो भी परंपरा की अपेक्षा से उसीको भी अनादि अनंत कहने में बाधा नहीं है। इन तीनों अनुयोगों का ठीक २ ज्ञान करना चाहिये। यह तीनों अनुयोग समान कथन करने वाले नहीं हैं। यदि समान कथन करते तबतो सब एक प्रकार के कथन होजाने से तीनों अनुयोगों का नाश होजाता ! परन्तु तीनों अनुयोग अलग २ अपेक्षा से ही कथन कर रहे हैं इसलिये ये अनुयोग किस २ अपेक्षा से कथन करते हैं इसी का ज्ञान किए विना मात्र शास्त्र स्वाध्याय करते हुए भी जीव अज्ञानी का अज्ञानी ही रह जाता है।

जीवने आगम ज्ञान बहुत वार प्राप्त किया तोभी आत्मा का कल्याण क्यों नहीं हुआ, इसीका यदि शान्त चित्तसे पक्षपात छोडकर विचार किया जावे तो नियम से मालुम होगा कि आत्माने आगम अभ्यास करते हुए भी आगम की एक भी बात मानी नहीं है। जहां २ आगम में अपने राग पुष्ट हुए, ऐसी जो २ बातों देखीं वही बातें मात्र ग्रहण करलीं। इसी मिथ्यात्व गर्भित रागने आत्माको

संसार का भाजन बना रखा है। कुदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में गुरु बुद्धि और कुधर्म में धर्म बुद्धि कर ही संसार लंबा बना जा रहा है। जहां कुछ अतिशय या व्यन्तर देवों का अतिशय देखा कि तुरंत यह मेरा कल्याण कर देगा ऐसी बुद्धि करने में जरा भी विवेक नहीं किया। उसको ही सबकुछ मानने लगा। जैसा पद्मावती क्षेत्रपाल आदिको देव मानना एवं पद्मपुरी तथा महावीर आदि क्षेत्रमें इस प्रयोजन लिये ही जाना आदि। यह सब क्या है ? मिथ्यात्व गर्भित रागही तो है और क्या है। इसी प्रकार कुगुरुमें गुरुबुद्धि करने में जरा विवेक नहीं किया। जैसे श्रीमद् राजचन्द्र ने अपने जीवन में अपनेको मुमुक्षु ही कहा है उसने तो संत पुरुष अर्थात् निःस्पृही गुरुओं का सेवन करने का ही जहां तहां उपदेश दिया है तो भी उसके अनुरागी जीवों ने उसीकी प्रतिमा बनाली, दो पांच मंदिर में उसकी प्रतिमा भी स्थापना की, परन्तु इतना भी विवेक नहीं है कि प्रतिमा किसकी बनानी चाहिये। भक्ति तो गुण में अनुराग करना उसीका नाम है। जब श्रीमद् राजचन्द्र तो अव्रती सम्यग्दृष्टि आत्मा था और आपकाभी वही पद है तब आपने इसमें कौनसा विशेष गुण देखकर गुरु भक्ति की। यही सोचने को जीवोंको अवकाश नहीं है। इसी प्रकार शास्त्र में भी मेरी बात रह

जाय इसी अभिप्राय से सोनगढ वासीने नियमसार ग्रन्थ की गाथा ५३ का अर्थ बदलकर अपने मत के अनुकूल उस गाथा का अर्थ कर दिया। यह सब क्या है? मिथ्यात्व गर्भित राग की ही तो बदौलत है।

जिस जीवको मात्र व्यवहारका ही पक्ष है ऐसा व्यवहाराभासी जीव जहां बाह्य नग्न दिगम्बर स्वरूप देखता है और हाथ में कमण्डलु पींछी देखी वहाँ जरा भी विवेक किए बिना गुरु मानने में संकोच करता नहीं है? अठाईस मूल गुणोंका पालन ठीक २ देखने में आता नहीं है, जो शीत आदिका परिषह सहन न कर घास आदि ओढ लेते हैं, जिनने पांच इन्द्रियों एवं उनके विषयको भी प्रत्यक्ष में जीता नहीं, ऐसा अपना आत्मा कबूल करता है तो भी, और जो अपने साथ में दोचार बक्स जितना शास्त्रो दोचार बिछाने के लिये चटाई आदि अनेक परिग्रह रखते दिखाई देते हैं तो भी उसीको गुरु मानने में जराभी विलम्ब नहीं करता है। यह सब क्या है? मिथ्यात्वगर्भित राग की ही तो बदौलत है। और जो जीवों को मात्र निश्चय का पक्ष है अर्थात् जो निश्चयाभासी है वह मुख से तो निर्ग्रन्थ गुरु बोलता है तो भी अनेक प्रकार के कपडे पात्रादि का परिग्रह देखते हुए उसीको "सतगुरु देव"

आदि कहने में विवेक तो करता नहीं, परन्तु उसमें अपना गौरव समझता है। यह सब क्या है ? मिथ्यात्व की तो बदौलत है। मिथ्यात्व में क्या नहीं होता है ? देखिये हिंसा में प्रत्यक्ष सब जीव पाप ही मानते हैं तो भी तीव्र मिथ्यात्व में जीव काली देवी आदि को भैंसे आदि का बलिदान देकर अपने को धर्म हुआ मानता है। यह सब क्या है ? मिथ्यात्व कीबदौलत है। विशेषकर पाप को तो जीव बहुत अंशमें पाप मानते हैं परन्तु मिथ्यात्व ऐसी वस्तु है कि वह तो धर्म की जहाँ गंध नहीं है, ऐसी हिंसा में भी धर्म मनादेता है।

जीव ने कुदेव में सुदेव बुद्धि एवं कुगुरु में सुगुरु बुद्धि अनेक दफे छोडकर ग्रैवेयकवासी देव अनेक दफे बना परन्तु पुण्य भाव में धर्म बुद्धि मानना कभी भी छोडी नहीं। यही संसार का जनने वाला मिथ्यात्व है। सूक्ष्म मिथ्यात्वरूप परिणाम ऐसा है कि वह पुण्य भाव में तुरन्त धर्म बुद्धि करा देता है। यही अनन्त संसार की जड है। यही संसार की जननी है। पुण्य भाव में आत्मा धर्म बुद्धि कर अपने को धर्मात्मा मान लेता है। जीव यदि दो चार पूजा नित्य करने लगा और एकाध घंटा श्रीमंदिर में लगाने लगा तो लोक कहने लगेगा कि भाई महाव बडे ही धर्मा-

त्मा हैं इतना तो नहीं परन्तु इसी को ''भक्त भी कहने लगेगा। परन्तु इतना भी इसको ज्ञान नहीं है कि पूजा का भाव धर्म है कि पुण्य भाव अर्थात् बन्धन करने वाला अधर्म भाव है। यदि वही जीव अर्थात् भक्त नामधारी जहां शुद्ध अर्थात् मर्यादित आहार लेने लगा वहां तो वह अपने को बडा ही धर्मात्मा मानता है परन्तु उसे मालूम भी नहीं है कि शुद्ध आहार लेने का भाव कौनसा भाव है ? वह तो इसी को पुण्य अथवा निर्जरा भाव मानता है परन्तु इतना भी ज्ञान नहीं है कि खाने का भाव पुण्य कैसे हो सकता है वह तो पाप भाव है । पाप भाव को पुण्य भाव मानना मिथ्यात्व है। और पुण्य भाव को धर्म भाव मानना मिथ्यात्व है। यह इस जीव को ज्ञान नहीं है, क्योंकि उसने तत्त्व का यथार्थ स्वरूप जानने की चिन्ता करी ही नहीं है। भगवान कुन्द-कुन्द स्वामी ने समयसार ग्रन्थ के पुण्यपापाधिकार में गाथा १५४ में भी यही बात कही है कि—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेदुं अजाणंता ॥

अर्थः—जो जीव परमार्थ से बाहर है परमार्थ भूत का ज्ञायक स्वभावी आत्मा को नहीं अनुभवै है—नहीं जानता है, वह

जीव अज्ञान करि पुण्य कूं इष्ट माने है। पुण्य को ही धर्म माने है। कैसा है वह पुण्य? संसार के गमन का कारण है। और आत्मा कैसा है? मोक्ष का कारण ज्ञायक स्वभावी आत्मा को नाहीं जानते, पुन्य को ही मोक्ष का कारण माने हैं सो भूल है।

इसी प्रकार समयसार के बन्धाधिकारकी गाथा २७५ में भी कहा है कि—

सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासदि।
धम्मं भोगनिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयनिमित्तं॥

अर्थ—संसार वधक जो पुण्य धर्म है जो भोग मिलने का ही मात्र कारण है उसी की मिथ्यादृष्टि जीव प्रतीति करता है, उसी की रुचि करता है, उसी को ही स्पर्शे है अर्थात् ग्रहण करता है और जो मोक्ष का कारण वीतराग धर्म अर्थात् ज्ञायक भाव है उसका श्रद्धान नहीं करता है नाहीं प्रतीति करता है। और जो कर्म क्षयका कारण जो ज्ञायक स्वभाव भाव है उसकी रुचि भी नहीं करता है, नाहीं उसे ग्रहण करता है।

शास्त्र में पुण्य भाव को धर्म बहुत जगाता है ऐसा कहा है और पुण्य भाव को व्यवहार मोक्ष मार्ग भी कहा

है एवं पुण्य को परंपरा मोक्ष का कारण भी कहा है, परंतु नय का एवं अनुयोग का ज्ञान नहीं होने के कारण जीव शास्त्र पढते हुए भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। जैसे पुरुषार्थ चार कहा है। (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम (४) मोक्ष । परन्तु धर्म का अर्थ भी समझता नहीं है एवं उसका परमार्थ अर्थ भी समझता नहीं है, मात्र शास्त्र का शब्द ज्ञान कर तोते की माफिक बोल देता है । इसी का परमार्थ अर्थ यह है कि धर्म का अर्थ पुण्य है, पुण्य से अर्थ अर्थात् धन मिलता है और अर्थ अथवा धन से भोग की सामग्री मिलती है और यह तीनों का अभाव करने से अर्थात् तीनों का त्याग करने से मोक्ष मिलता है। यह परमार्थ का ज्ञान न होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। इसलिये सर्व प्रथम मोक्षमार्गी जीवों को अनुयोग का ज्ञान करना चाहिये। क्योंकि तीनों अनुयोग अलग अलग अपेक्षा से कथन करता है और अज्ञानी को इसका ज्ञान न होने के कारण शास्त्र-स्वाध्याय करते हुए भी मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। द्रव्यानुयोग और करणानुयोग का निमित्त नैमित्तिक संबंध है और द्रव्यानुयोग एवं चरणानुयोग का कारण-कार्य सम्बन्ध है। यही ज्ञान न होने से चरणानुयोग के कथन

को द्रव्यानुयोग समझ जाता है और द्रव्यानुयोग के कथन को चरणानुयोग समझ जाता है। यही मिथ्यात्व रहने की महान भूल है। इस भूल का नाश करने के लिये अनुयोग का ठीक ठीक ज्ञान करना चाहिये।

धर्मकथानुयोगः—इस अनुयोग में प्रधानतः पुण्य पाप के फलाफल का वर्णन है। इसके ज्ञान से आत्मा पाप भाव को छोडकर पुण्य भाव में जरूर लगने के लिये पुरुषार्थ बतलाता है। यही इस अनुयोग का प्रधान कार्य है। यद्यपि आचार्य का पुण्य में फंसाने का अभिप्राय नहीं है; परन्तु धर्म की रुचि उत्पन्न कराने का अभिप्राय है। इस अनुयोग में जीव सौ दफे पाप सेवन करे और एक दफा पुण्य भाव में लगे तो पापके फल को गौण कर तुरन्त यह अनुयोग कहेगा कि देखो पुण्य के कारण स्वर्ग की प्राप्ति करी। एवं सौ भाव पुण्य का करे और एक भाव पाप का करे तो वही पुण्य भाव को गौण करि यह अनुयोग तुरन्त कहेगा देखो पाप भाव से जीव नरक में गया। इस प्रकार के कथन करने की शैली इस अनुयोग की है। यह अनुयोग इस प्रकार का भी कथन करेगा कि राजा बनना हो, स्वर्ग में देव बनना हो तो पुण्य करो। यही कांक्षा का भाव है जो मिथ्यात्व गर्भित है। परन्तु अभिप्राय

मिथ्यात्व का सेवन कराने का नहीं है, मात्र अभिप्राय धर्म की ओर रुचि उत्पन्न कराने का है। त्रेसठ शलाका के पुरुष का वर्णन प्रधानतः इस अनुयोग में ही आता है। जिसको पढकर जीवको ऐसा महान पद लेने की भावना उत्पन्न होती है जिस कारण से वही जीव पुण्य भाव की तरफ झुक जाता है और पाप भाव को छोड़ने की चेष्टा करता है। पुण्य भाव में आनेके बाद श्रीगुरु उसीको यथार्थ मोक्ष का मार्ग दिखायेगा कि अरे यह पुण्य भी तो बन्धन है। इस भाव को छोड, मात्र वीतराग भाव की ओर आजा जो मोक्ष का कारण है। इसी प्रकार इस अनुयोग में कथन की शैली है।

चरणानुयोगः—इस अनुयोग में प्रधानतया बाह्य साधनों के—जो कि राग का कारण हैं, त्याग का वर्णन करता है। क्योंकि संसार में सामग्री वस्तु न हो उसका राग कभी भी होता ही नहीं है। जो बाह्य सामग्री राग कराती जाती हैं तो भी कारण में कार्य का उपचार कर इस अनुयोग में कथन करने की शैली है। कहा भी हैं कि—

वत्थुं पडुच्च जे पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
णय वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ॥

अर्थ-जीवों के जो अध्यवसाय भाव होता है वह वस्तु को अवलम्बन करके होता है तो भी वस्तुओं से बन्ध नहीं होता है परन्तु बन्ध अध्यवसाय या भाव से ही होता है।

इसलिये रागादि भाव छुडाने का अभिप्राय रखते हुए यह अनुयोग पर पदार्थ के त्याग का उपदेश करता है। यथार्थ में देखा जाय तो पर पदार्थ स्वतः आत्मा से भिन्न हैं, केवल कारण के त्याग से कार्य का त्याग हो सकता है। इस लच्यसे यह अनुयोग रागादिक की उत्पत्तिका कारण पर पदार्थों को छोडने का व्याख्यान करता है। यथार्थ में पर पदार्थ का त्याग नहीं होता है प्रत्युत उसके प्रति जो ममत्व भाव है उसी का त्याग करना कार्यकारी है व कल्याणप्रद होता है, परन्तु पर पदार्थ छोड दिया और राग न छूटा तो त्याग कोडी की कीमत का है। जैसे रस छोड देवे और राग न छूटे तो त्याग कोई कार्यकारी नहीं है। क्योंकि रस छोडना धर्म नहीं है परन्तु राग छोडना धर्म है। यथार्थ में रस छोडा जाता ही नहीं है क्योंकि ऐसा एक भी पुद्गल परमाणु नहीं है कि जिसमें रस नामका गुण न हो।

चरणानुयोग छद्मस्थ जीवों के वुद्धि-गम्य बातों का ही व्याख्यान करता है। लोक का सर्व व्यवहार

चरणानुयोग से ही चलता है। करणानुयोग में व्यवहार प्रवृत्ति होती ही नहीं है। क्योंकि करणानुयोग समय २ के परिणामों का कथन करता है जब चरणानुयोग स्थूल असंख्यात समय के काल के परिणामों का कथन करता है जो कि छद्मस्थ जीवों के ज्ञानोपयोग गम्य है।

चरणानुयोग में गुणस्थान मात्र बाह्य प्रवृत्ति पर है जिसके आधार से लोककी प्रवृत्ति चलती है जब कि करणानुयोग में गुणस्थान भावों पर है जो यथार्थ है और चरणानुयोग के गुणस्थान व्यवहार मात्र या कहने मात्र हैं।

चरणानुयोग नौकर्म को बाधक साधक मानता है जब करणानुयोग नौकर्म को साधक बाधक नहीं मानता है, मात्र द्रव्यकर्म को ही बाधक मानता है कि जिस द्रव्यकर्म के साथ में जीवका निमित्त नैमित्तिक सबंध है।

पात्रादिक का भेद चरणानुयोग में ही होता है जिस कारण चरणानुयोग में ही भक्ति आदि क्रियाएं होती हैं। करणानुयोग में पात्रादिकका भेद नहीं है जिस कारण से करणानुयोग में भक्ति होती ही नहीं है। क्योंकि जिस जीव का भाव ग्यारहवां गुणस्थान का है वही जीव अपने भाव से गिरकर समय मात्र में मिथ्यात्व आदि गुणस्थान में आजाता है। जहां परिणामों की ऐसी स्थिति है वहां

छद्मस्थ जीव परिणामोंको देखकर भक्ति कर नहीं सकता है क्योंकि छद्मस्थ जीव का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में ही होता है इसलिये भक्ति में प्रधानपना चरणानुयोग का ही है।

निश्चय सम्यग्दृष्टि आत्मा जब सम्यग्दर्शन से गिर कर मिथ्यात्व भाव में चला जाता है तब तुरन्त उसी जीव को भी मालुम नहीं होता है कि मैं मिथ्यात्व में कब चला गया हूं। क्योंकि छद्मस्थ जीवों के सूक्ष्म भाव बुद्धि गम्य नहीं आते हैं परन्तु छद्मस्थ के स्थूल भाव बुद्धि गम्य हैं। जैसे धनी आदमी अपने पास में कितनी पूंजी है वह रुपया आना पाई सहित निश्चित रकम नहीं दे सकता है या कह सकता है, परन्तु अपनी मिलकियत का अंदाजा देखता है। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव अपने सूक्ष्म भावको नहीं जानता है परन्तु स्थूल भावको जानता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय में जो पर पदार्थ में इष्टानिष्ट का स्थूल भाव होता था वही स्थूल भाव नहीं होनें से जीव मानता है कि मेरे में अब अनन्तानु बन्धी कषाय का अभाव है। परन्तु सूक्ष्म भाव अनन्तानुबन्धी का रह जाता है उसको वह जीव पकड भी नहीं सकता है। क्योंकि उसका ज्ञान ही इतना हीन है। इसी कारण से तो कहा गया है कि

जो जीव नवें ग्रैवेयक में जाने वाला है उसमें भी सूक्ष्म मिथ्यात्व का ऐसा भाव रह जाता है जो वह उसके गम्य नहीं है परन्तु केवली–गम्य है। जैसे स्थूल भाव से हम कह सकते हैं कि कुन्दकुन्द स्वामी के एक रोम में या एक आत्म–प्रदेश में भी स्त्री भोगने का भाव नहीं था, परन्तु सूक्ष्मता से विचार करते या आगम प्रमाण से विचार करते कुन्द कुन्द स्वामी में भी सूक्ष्म स्त्री सेवन क भाव जरुर था। यदि यह भाव नहीं होता तो उन्हें पुरुष वेद का बन्ध कैसे होता ? इससे सिद्ध होता है कि छद्मस्थ जीव स्थूल भावों का ही मात्र ज्ञान कर सकता है एवं पुरुषार्थ कर सकता है।

सम्यग्दर्शन का भाव तो महान सूक्ष्म भाव है परन्तु सासादन गुणस्थान का भाव तो सम्यग्दर्शन करते बहुत स्थूल है तो भी वह भाव छद्मस्थ के ज्ञान गोचर नहीं है। एवं सासादन गुणस्थान में जो भाव है या सासादन का जो काल है उस भाव और काल से मिश्रगुणस्थान का भाव व काल विशेष स्थूल है तो भी वह भाव और काल छद्मस्थ जीवों के ज्ञान गम्य नहीं है। जहां वस्तुका स्वरूप ऐसा है वहां जीव हिम्मत से कहता है कि अमुक व्यक्ति निश्चय से सम्यग्दृष्टि है। वह उसका कहना कहां तक सत्य है यह

विचार करना चाहिये ? व्यवहार से हम व्यवहार द्वारा परीक्षा कर कहते हैं कि यह जीव सम्यग्दृष्टि है, वह व्यवहार की अपेक्षा सत्य है क्योंकि व्यवहारी जीवों को व्यवहार की शरण है।

मैं तो मिथ्यादृष्टि हूँ परन्तु अमुक व्यक्ति नियम से सम्यग्दृष्टि है यह उसका कहना कितना गलत है ? आप तो कुम्हार है और हीरे की परीक्षा करते हैं, यह कैसे बन सकता है ? प्रथम आप जौहरी बनिए बाद में कहिये कि यह हीरा है, तब तो आपका कहना सत्य है। इससे सिद्ध होता है कि निश्चय का ज्ञान छद्मस्थ जीवों को नहीं है परन्तु व्यवहारी जीव को व्यवहार का ज्ञान है।

चरणानुयोग यही उपदेश देगा कि अभक्ष पदार्थ छोडो, बाजार की चाट छोडो, जल छानकर पीओ, रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करो, पंच परमेष्ठि की भक्ति करो, जाप करो सामायिक करो, प्रतिमा धारण करो लक्ष्मी का त्याग करो, स्वस्त्री का त्याग करो, घरका त्याग करो, वस्त्रका त्याग करो, नग्न दिगम्बर मुनि बनो, पंच महाव्रतका पालन करो, यह सब उपदेश का अभिप्राय वीतराग भाव प्राप्त कराने का ही है और वीतराग भाव प्राप्त न हुआ और घर छोड त्यागी बना और नग्न दिगम्बर

मुनि भी बनगया, पंच महाव्रतका पालन भी किया तोभी वह मात्र बाह्य त्याग रूप ही रहा, परन्तु शान्ति का उत्पादक नहीं हुआ।

चरणानुयोग की अपेक्षा मुनि लिंग सर्वथा निर्ग्रन्थ ही होता है, जिसके पासमें एक सूत्र मात्र परिग्रह है वह मुनि नहीं है परन्तु गृहस्थ है। चरणानुयोग की अपेक्षा नग्न दिगम्बर मुनि उत्तम पात्र है। ऐलक, क्षुल्लक, आर्यिका, क्षुल्लकाणी, ब्रह्मचारी आदि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हैं वे ही मध्यम पात्र हैं और अव्रती श्रावक पाक्षिक हैं वह जघन्य पात्र हैं।

चरणानुयोग की अपेक्षा से जिसको सतदेव, सतगुरु और व्यवहार धर्म की श्रद्धा है वही सम्यग्दृष्टि है। परन्तु जिसको कुदेव कुगुरुकी श्रद्धा है वह मिथ्यादृष्टि है। चरणानुयोग का सम्यग्दृष्टि यदि वीतराग देवके सामने भक्ति करता धन मांगे, पुत्रादि मांगे तो भी चरणानुयोग उसको सम्यग्दृष्टि मानेगा। यद्यपि यह कांक्षा के भाव स्थूल मिथ्यात्व के ही हैं। परन्तु चरणानुयोग इसको ही स्वीकार करता है। क्योंकि चरणानुयोग में मात्र बाह्य प्रवृत्ति खान पान आदि का सम्बन्ध है। जिसको आगमज्ञान नहीं है, परन्तु मात्र देवादिक की बाह्य श्रद्धा है उसको

चरणानुयोग सम्यग्दृष्टि कहना है परन्तु करणानुयोग के व्यवहार की अपेक्षा वही मिथ्यादृष्टि है। करणानुयोग के व्यवहार से जिस जीवको छह द्रव्य, नौ तत्त्व, पंचास्तिकाय बन्ध मोक्ष के कारण का ज्ञान है वह सम्यग्दृष्टि है। यद्यपि उसको मिथ्यात्व कर्मका उदय है क्योंकि व्यवहार में कर्म के उदय का ज्ञान छद्मस्थ जीवों को नहीं होता है परन्तु वचन द्वारा आगम अभ्यास से उसके ज्ञान का आगम अनुकूल जवाब होनेसे कहा जाता है कि यह सम्यग्दृष्टि है और उसी प्रकार उसके साथ व्यवहार रखा जाता है। यही व्यवहारी जीवों का व्यवहार है, ऐसा जिनेंद्र देव ने कहा है।

चरणानुयोग की अपेक्षा जो नग्न दिगम्बर है, जिसको व्यवहार से छह द्रव्य, नौतत्व, पंचास्तिकाय, बन्ध मोक्ष के स्वरूप का ज्ञान है, जो २८ अठाईस मूलगुणों का आगमानुकूल पालन करता है, जो बाईस परीषह को आगमानुकूल जीतता है, जो देव मनुष्य तिर्यंच द्वारा आए हुए उपसर्ग को जीतता है उसको ही मुनि मानकर उसको ही मात्र नमोस्तु कहना चाहिए और उसकी ही नवधाभक्ति होती है। ऐलक, क्षुल्लक, अर्जिका, क्षुल्लिकाणी की नवधाभक्ति में से पूजनछोड कर आठ प्रकार की भक्ति होती है क्योंकि

उसका पंचम गुण स्थान है और उसको नमोस्तु नहीं कहना चाहिये. परन्तु इच्छाकार करना चाहिए। सूत्र पाहुड की गाथा १३ में कहा है कि—

अवसेसा जे लिंगी दंसणणाणेण सम्म संजुत्ता।
चेलेणाय परिगहिया ते भणिया इच्छणिज्जाय।१३।

अर्थ— दिगम्बर मुद्रा सिवाय अवशेष जे लिंगी हैं-भेष करि संयुक्त हैं, परन्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान करिके सहित हैं और वस्त्र करि परिगृहीत हैं—वस्त्र धारे हैं वह जीव इच्छाकार कहने योग्य हैं।

जिसको नमोस्तु कहने का भी पद नहीं है ऐसे जीवों की पूजा (अर्घ) कैसे की जा सकती है। पंचम और छटवां गुणस्थान में यही तो अंतर है। देखिये समवशरण में भी मुनि महाराज के बैठने का कोठा अलग है परन्तु अर्जिका साधारण अव्रती स्त्री की सभामें सबके समान अपना आसन लेती है, इसके लिये और कोई खास प्रकार की व्यवस्था नहीं, एवं ऐलकादि भी साधारण अव्रती श्रावक के साथ श्रावक के ही कोठे में बैठते हैं, उनके लिये भी वहां खास प्रकार के भेद भाव रूप की व्यवस्था नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि पंचम गुणस्थानवाले उत्कृष्ट

पदके धारी की पूजा नहीं हो सकती है। और जो पंचम गुणस्थान में निमंत्रण से भोजन लेते हैं, उनकी पांच प्रकार की भक्ति होती है। परन्तु चार प्रकार की भक्ति अर्थात् पूजन मनःशुद्धि वचनशुद्धि और कायशुद्धि नामकी चार भक्ति नहीं होती है। क्योंकि उसने निमंत्रण मानलिया है अर्थात् हमारे चोके में जो सामग्री बनाई जाती है वह तो उसके लक्ष से ही बनाई जाती है एवं उसमें जो हिंसा होती है उसमें उसकी अनुमोदना भी है जिससे मनशुद्धि वचनशुद्धि एवं कायशुद्धि नामकी भक्ति उसकी नहीं करना चाहिये परन्तु यह तीन भक्ति तो जो निमंत्रण नहीं स्वीकरता है, उसकी ही की जाती है।

शंका—स्त्रियों को छठा गुणस्थान होता है ऐसा आचार्यप्रवर भुतवलि स्वामीने धवल ग्रन्थ में प्रथम खण्ड के सूत्र ९३ में लिखा है तब उसकी पूजा क्यों नहीं करनी चाहिये ? कहा भी है कि—

सम्मामिच्छाइट्ठि, असंजसम्माइट्ठि, संजदासंजद, (संजद) ट्ठाणेनियमा पज्जत्तियाओ।

अर्थ—मनुष्य स्त्रियां सम्यग्दृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक

होती हैं।

समाधान——यह करुणानुयोग की अपेक्षासे अर्थात् भावकी अपेक्षासे कहा है जो परम सत्य है। परन्तु करुणानुयोग में भक्ति होती ही नहीं है, भक्ति चरणानुयोगका ही विषय है, क्योंकि जिस आत्मा का ग्यारहवां गुणस्थान रूप परिणाम है वही आत्मा अपने परिणामोंसे च्युत होने पर समय मात्र में प्रथमादि गुणस्थानवर्ती हो जाता है जहां परिणामकी स्थिति ऐसी है, वहां छद्मस्थ जीव परिणाम देखकर भक्ति कर नहीं सकता है। इसलिये भक्ति नियम से चरणानुयोग में ही होती है। चरणानुयोग की अपेक्षा जब तक वस्त्रादिक का त्याग नहीं किया जाता है अर्थात् नग्न दिगम्बर अवस्था बाहर में नहीं होती है तब तक छटवाँ गुणस्थान माना नहीं जाता है। इसी कारण स्त्रियों का पंचम गुणस्थान ही माना जाता है और उनकी पंचम गुणस्थान के अनुकूल भक्ति करनी चाहिये।

जैसे तीर्थंकर जब गृहस्थावस्था से उदासीन होते हैं तब उनके परिणाम सप्तम गुणस्थान रूप होते हैं तब ही लौकान्तिक देव आते हैं, इसके पूर्व लौकान्तिक देव कभी भी नहीं आते हैं। ऐसे सप्तम गुणस्थान रूप भाव हुए बाद

ही वस्त्रादिक का त्याग किया जाता है। भाव पाहुड की गाथा ७३ में कहा है कि—

भावेण होई नग्गो मिच्छताइ य दोस चइउणं।
पच्छा दव्वेण मुणि पयडदि लिंगं जिणाणाए॥

अर्थ— प्रथम मिथ्यात्वादि दोषों को छोड़कर भाव नग्न होकर एवं शुद्ध आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण कर तत्पश्चात् मुनि द्रव्य रूप बाह्य क्रिया जिनाज्ञा पूर्वक प्रकट करे-ऐसा जैन मुनिका मार्ग है।

प्रथम भाव होता है बाद में ही क्रिया होती है, यह रागी जीवों के लिये नियम है। तीर्थंकर के आत्मा में वीतराग राग रूप सप्तम गुणस्थान की अवस्था है तब सौधर्म इन्द्र आता है और कहता है कि प्रभो! यह गहना पहनिये। यह कपड़ा पहनिये। प्रभो! पालकी में विराजिये और गाजा बाजा आदि अनेक ठाठ के साथ उद्यान में ले जाता है। रागी इन्द्र यह सब ठाठ कर रहा है जब तीर्थंकर के तो उदासीनता अर्थात् सप्तम गुणस्थान का भाव है। कहा भी है कि—

सती मोहे श्रृंगार अति करत प्यार जो नगर नार।
धाव लडावत आन बाल त्यों भोग करत नाहीं खुशाल॥

जब वस्त्रादिक का त्याग और केशलौंच नहीं होगा तब तक चरणानुयोग तीर्थंकर का छठवां गुणस्थान स्वीकार नहीं करता है। चरणानुयोग मात्र बाह्य प्रवृत्ति देखता है कि जो प्रवृत्ति छद्मस्थ जीवों के ज्ञान गोचर है। इसलिये चरणानुयोग में ही पदके अनुकूल भक्ति होती है।

चरणानुयोग बाह्य वस्तुके संयोग में परिग्रह मानता है जबकि करणानुयोग बाह्य वस्तु के संयोग में परिग्रह नहीं स्वीकार करता है। करणानुयोग में "मूर्छा" को मात्र परिग्रह स्वीकार किया है। देखिये एक भिक्षुक के पास में कुछ भी परिग्रह नहीं है और तीन लोककी सम्पत्तिकी मूर्छा है। इसी कारण उसको महान दुःखी एवं परिग्रह धारी मानते हैं और एक छह खण्ड की विभूति का परिग्रह होते हुए भी मूर्छा नहीं होने से भरत महाराजको वैरागी कहा है। यह क्या है ? यह अनुयोग की महिमा है। करणानुयोग और चरणानुयोग परस्पर विरोधी कथन करते हैं। इसकारण इस अनुयोग का ठीक २ ज्ञान नहीं होने से जीव मिथ्यादृष्टि ही रह जाते हैं। देखिए दोनों अनुयोग का विरोधः—चरणानुयोग रस छोडकर भोजन लेनेवाले को धर्मात्मा कहता है जब करणानुयोग कहता है कि भोजनमें महान लालसा है इस कारण पापी है। जिसने स्त्रीका त्याग

किया है उसको चरणानुयोग कहता है ब्रह्मचारी है जब करणानुयोग कहता है वह तो भावसे नारी सेवन करनेसे भोगी है। जिसने वस्त्रका त्याग कर नग्नता दिगम्बर अवस्था धारण की है जो मूलगुणों का जिन आज्ञा अनुकूल पालन करता है, जो बाईस परीषह को जीतता है देव, मनुष्य और तिर्यंच द्वारा आए उपसर्ग को जीतता है उसको चरणानुयोग कहते हैं। पर छटे गुणस्थानवर्ती मुनि महाराज हैं, उनको करणानुयोग कहता है कि कहाँ का मुनि है भाव में तो मिथ्यात्व का सेवन कर रहा है मिथ्यादृष्टि है और द्रव्य लिंगी मुनि है। कहा भी है कि—

जिनवर कहेलां व्रत समिति गुप्ति वली तप शील ने।
करतां छताय अभव्य जीव अज्ञान मिथ्यादृष्टि है ॥

दान देनेसे चरणानुयोग कहता है महा दानेश्वर धर्मात्मा है, जब कि करणानुयोग कहता कि कहाँ का दानेश्वर है? महा मान कषायी पापी आत्मा है। मान से धन का त्याग कर रहा है। इत्यादि दोनों अनुयोगों में परस्पर विरोध है तो भी दोनों अनुयोग अपने अपने पद में सत्यार्थ हैं।—जैसे

एक मुनि भाव लिंगी जंगल में शीत काल में ध्यान में आरूढ हैं। उसी समय एक भद्र परिणामवाला अजैन वहां से निकला। मुनि को नग्न देखकर उसे दया आई। अहा! इतनी शीत में यह जीव नग्न है? यह सोचकर करुणाभाव से मुनि के शरीर पर अपनी एक चादर डाल दी। वह वहां से चला गया। मुनिको उपसर्ग आगया। इतने में थोडी देर के बाद श्रावक संघ मुनि को वंदन करने को आया। मुनिको चादर सहित देखकर विचारने लगा, अरे कांहे का मुनि है? चादर ओढकर तो बैठा है। चुप रह गया, वंदन नहीं किया। क्योंकि यह चरणानुयोग की विधि है। इतने में थोडी देर बाद मुनि ने क्षपक श्रेणी मांडकर केवलज्ञान की प्राप्ति की। तुरन्त इन्द्र आदि देव केवल कल्याण के लिये आए। श्रावक संघ सोचने लगा कि अरे! मुनि महाराज ने केवलज्ञान प्राप्त किया। अरेरे! मैंने मुनि महाराज को पिछाना नहीं, धिक्कार है। इस अल्प ज्ञान को देखिये श्रावक पश्चाताप करता है, तो भी उसने वंदन नहीं करने में ही अपनी पद की रक्षा की थी। क्योंकि वंदन करना चरणानुयोग की विधि है और उसने ठीक २ चरणानुयोग के अनुकूल जिन आज्ञा का पालन किया था। यह तो

दोनों अनुयोग में विशेषता है। इसी कारण दोनों अनुयोग के कथन को सुनकर संशय में न पडकर यथार्थ निर्णय करना चाहिये कि यह कौनसे अनुयोग का कथन है।

चरणानुयोग कार्य देखकर कहता है कि मनुष्य उच्च एवं नीच गोत्री होता है जब करणानुयोग हिम्मत से कहता है कि मनुष्य नीच गोत्री होता ही नहीं है, उच्च गोत्र में ही मनुष्य पर्याय मिलती है। अरे सम्मूर्छन मनुष्य जिसकी आयु श्वास के अठारहवें भाग मात्र है वह भी उच्च गोत्री है। देखिए गोम्मटसार गाथा १३ और २८५।

इसलिये मोक्षमार्गी जीवों को फालतू झगडे में न पडकर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अपने कल्याण करने का रास्ता लेना चाहिये। लाख बात की एक बात यह है कि जीव को पिछान कर राग-द्वेष छोडना चाहिये वही धर्म है। यही चारों अनुयोग का सार है :—

करणानुयोग—प्रधानतया कर्म प्रवृत्ति द्वारा आत्म-परिणाम का और तीन लोक की रचना का ज्ञान कराता है। करणानुयोग बाह्य पदार्थ को अर्थात् नोकर्म को साधक बाधक नहीं मानता है, परन्तु कर्म को ही

बाधक मानता है और कर्म के अभाव को साधक मानता है। कर्म प्रकृति छोडनें को यह अनुयोग उपदेश देता है, परन्तु यथार्थ में कर्म प्रकृति का त्याग नहीं होता है। क्योंकि वह तो पर पदार्थ है, पर पदार्थ का त्याग करना यह कहना मात्र शाब्दिक व्यवहार है। कर्म प्रकृति जिस परिणाम से बंधती है, उस परिणाम को न करे उसीका नाम ही कर्म प्रकृति का त्याग है। कर्म हमको दुख देता है यह भी कहने मात्र का उपचार है। कर्म तो जड है वह आत्मा को दुख नहीं दे सकता है, आत्मा अपने रागादिक परिणाम से दुखी है। आत्मा के रागादिक परिणामों का और कर्म प्रकृतियों का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसलिये कर्म प्रकृति हमको दुख देती है ऐसा कहा जाता है। वह व्यवहार है। कर्म ही आत्मा के परिणामों में अभ्यन्तर निमित्त हैं। कर्म छोडकर रागादिक का और कोई निमित्त नहीं है। नो कर्म तो ज्ञेयका निमित्त है परन्तु आत्मा मोहादिक के कारण उसीको ज्ञेय रूप न मानकर अपने रागदिक में उसीको निमित्त बना लेता है तो भी ज्ञेय निमित्त बनता नहीं है। ज्ञेय पदार्थतो ज्ञेय ही है वह रागादिक के कारण नहीं है। यदि वह रागादिक के कारण हो तो केवली परमात्मा को भी वह रागादिक करा देता

परन्तु वह रागादिक का निमित्त नहीं है मात्र ज्ञेयका नि
है। केवली भगवान् लोकालोक को देखता है परन्तु गधे
सींग, आकाश के पुष्प, वंध्या औरत के पुत्र को क्यों न
देखता है? तब कहना पडेगा कि लोक में ऐसा ज्ञेय नहीं
इसी कारण केवली परमात्मा ज्ञेय बिना देखता नहीं है
ज्ञेय कारण है और ज्ञान की अवस्था होना कार्य है
प्रथम कारण होता है बाद में ही कार्य होता है। परन्तु आ
कल बहुत जीव कार्य की महिमा मानता है, कारण
महिमा नहीं मानता। यह उसका अज्ञान है। कारण बि
कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं, इस सिद्धान्त को उस
माना नहीं। इसी कारण वह अज्ञानी है। जैसे रागादि
परिणाम कारण है और कार्माण वर्गणाकी कर्म रूप अवस्थ
होना कारण है। प्रथम कारण में अवस्था होती है बाद
तदनुकूल ही कार्य अर्थात् नैमित्तिक की अवस्था होती
है। इसी प्रकार जितने अंशों में ज्ञानावरणादि कर्म का उदय
होगा उतने ही ज्ञान की नियमसे हीन अवस्था होगी।
ज्ञानावरण कर्म कारण है उसीकी प्रथम अवस्था होती है,
तत्पश्चात् ज्ञान की तदनुकूल ही अवस्था होती है जिसको
नैमित्तिक अवस्था कही जाती है। इससे सिद्ध होता
है कि कर्म के साथ में आत्माका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

संवर निर्जरा का भेद भी प्रधानपने करणानुयोग में ही होता है। क्योंकि जितनी प्रकृतियों का बन्ध रुक जाता है उसीको तो संवर कहा जाता है।

स्त्री रूप जिसका शरीर है ऐसा आत्मा बाह्य में कपडे का परिग्रह होते संते उसका सप्तम गुणस्थान तक निर्मल परिणाम हो सकता है। इसी अपेक्षासे आचार्य भूतबलि महाराज ने धवल के ९ वें सूत्र में कहा है कि—

सम्मामिच्छाइट्ठि-असंजसम्माइट्ठि-संजदा-संजद (संजद) ट्ठाणे णियमा पज्जत्तियाओ ॥

अर्थ—मनुष्य स्त्रियां सम्यग्मिथ्यादृष्टि असंयत सम्यग्दृष्टि संयतासंयत और संयत गुणस्थान में नियम से पर्याप्तक होती है।

स्त्री को संयत गुणस्थान होता है वह करणानुयोग की अपेक्षा से माना जाता है परन्तु चरणानुयोग की अपेक्षा से स्त्रीका पंचम ही गुणस्थान मानना चाहिये और पंचम गुणस्थान रूप इसका आदर सत्कार करना चाहिये।

करुणानुयोग की अपेक्षा से बाह्य परिग्रह होते हुए जीव मिथ्यात्व में से सीधा चतुर्थ गुणस्थान रूप भाव, पंचम गुणस्थान रूप भाव एवं सप्तम गुणस्थान रूप भाव

कर सकता है । बाह्य पदार्थ करणानुयोग बाधक मानता नहीं है ।

श्री पांडव युधिष्ठिरादिक नग्न दिगम्बर अवस्था में शत्रुंजय पहाड पर ध्यानावस्था में थे तब अपने ही भाई ने पूर्व वैरके कारण लोहे का गहना जैसे मुकुट कुण्डल बाजूबन्ध हार इत्यादि तप्तायमान कर उसको पहरा दिया। इस अवस्था में मुनि महाराज श्रेणी मांड कर तीन बडे भाईयों ने सिद्ध पदकी प्राप्ति करली और दो लघु भ्राता ने सवार्थसिद्धि पद की प्राप्ति करली । देखिये बाह्य गहने का संयोग होते हुए भी उन महात्माओंने अपना निर्मल परिणाम कर सिद्धगति को प्राप्त करली । इससे सिद्ध होता है कि करणानुयोग बाह्य पदार्थों को बाधक नहीं मानता । जिस प्रकार श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर देवकी उपसर्गवाली अर्थात् धरणीधर रूप नागकी फणवाली प्रतिमा वर्तमान में पूजी जाती है इसी प्रकार क्या युधिष्ठरादि पांडवों की उपसर्ग की अवस्था की प्रतिमा पूजी जा सकती है ? कदापि नहीं। क्योंकि पूजा चरणानुयोग में होती है और चरणानुयोग बाह्य पदार्थ के संयोगवाली मुनि अवस्था नहीं मानता है तब वीतराग अवस्था कैसे स्वीकार करेगा ? यदि युधिष्ठिरादि पांडवोंका उपसर्गका फोटो लिया जावे तो वह

फोटो परिग्रह सहित अवस्थाका होगा या नग्न ही होगा ? सोचना चाहिये। अनुयोग ज्ञान कराने का कारण है परन्तु विसंवाद कराने का कारण नहीं है। चरणानुयोग ऐसे गहनावाली पांडवों की प्रतिमा को सरागीकी ही प्रतिमा कहकर उसकी पूजा वंदना आदि नहीं कर सकता है। समयसार ग्रन्थ में भी लिखा है कि—

"न हि शालितंदुलस्य बहिरंगतुषे विद्यमाने सत्यभ्यंतरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति। अभ्यंतर तुषत्यागे सति बहिरंगतुषत्यागो नियमेन भवेत्यवे। अनेन न्यायेन सर्वसंगपरित्यागरूपे बहिरंगद्रव्यलिंगे सति भावलिंगं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यंतरे तु भावलिंगे सति सर्वसंगपरित्यागरूपं द्रव्यलिंगं भवत्येवेति। हे भगवन् ! भावलिंगे सति बहिरंगद्रव्यलिंगं भवतीति नियमो नास्ति "साहारणासाहारणे" त्यादि वचनादिति ? परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानारुढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं। आभरणादिकं वा कृतं। तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव। कस्मात् ? इतिचेत्। बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पांडवादिवत्।

इससे सिद्ध होता है कि बाह्य परिग्रह का सद्भाव करुणानुयोग बाधक नहीं मानता है, उसे तो चरणानुयोग

ही बाधक मानता है ।

श्वेताम्बर संप्रदायवाले श्री मल्लिनाथ भगवान तीर्थंकर का स्त्री पर्याय मानते हैं, पुरुष लिंग नहीं मानते हैं । क्योंकि उनके ज्ञातृधर्मकथांग में मल्लिनाथ के पूर्व भवका वर्णन लिखा है । उसमें लिखा है कि मल्लिनाथ की आत्मा ने अपने मित्रके साथ मायाचार करके विशेष तप अनशन किया था, जिस मायाचार के कारण उसको नीच गोत्र का बन्ध पडगयाथा । वहां से मल्लिनाथ की आत्मा तो सर्वार्थ सिद्धि में गई और उसके मित्र जो भी मुनि अवस्था में थे वेही अपराजित विमानवासी देव बने । मायाचार के भाव में तो पाप का ही बन्ध होना चाहिये । वह ऊपर विमानवासी देव बन गया और नीच गोत्रका जब बन्ध बांधा था तब देव पद में कैसे गया ? देव तो नियमसे उच्च गोत्री ही है । देव पर्याय से मरण कर मल्लिनाथ का जीव अपने पूर्व भव में बांधा हुवा नीच गोत्र के कारण स्त्री लिंग में आया । परन्तु शान्त चित्तसे विचार करें तो पता लगे कि स्त्री का नीच गोत्र तो है ही नहीं । स्त्री भी उच्च गोत्री है । मनुष्य मात्र उच्च गोत्री है । सम्यग्दृष्टि आत्मा स्त्री लिंग में कैसे जन्म लेवेगा ? नीच गोत्रवाले के तो पंचम गुणस्थान से आगे का भाव तो होता ही नहीं, तब वह

तीर्थंकर आदि कैसे बना ? परन्तु अनुयोग के न जानने से कहां गलती रह जाती है यह ध्यान में आता ही नहीं है। कारण, अनुयोग का ज्ञान करना मोक्षमार्ग में प्रधान कारण है। अनुयोग के ज्ञान बिना शास्त्र स्वाध्याय मात्र पुण्य बन्धका कारण है परन्तु वह परंपरा मोक्ष का कारण न बनकर संसार का ही कारण होता है।

करणानुयोग में प्रधानपना निमित्त का ही है। जिस प्रकार कर्म का उदय होगा उसी प्रकार ही नैमित्तिक आत्मा की अवस्था होगी। मनुष्यगति का उदय हुवा तब आत्मा को नियमसे मनुष्य गति में आना ही पडा। मिथ्यात्व का उदय आने से आत्मा की परिणति नियमसे मिथ्यात्व की होनी ही चाहिये। करणानुयोग में ही संयोग सम्बध होता है। जो जीव निमित्त को नहीं स्वीकार करता उस जीवने करणानुयोग माना नहीं। करणानुयोग को न मानने वाला एकान्त मिथ्यादृष्टि है। करणानुयोग में और द्रव्यानु-योग में भी परस्पर विरोध है। यदि दोनों अनुयोग समान कथन करते तो दो अनुयोग मिट कर एक अनुयोग बन पाता। परन्तु वस्तुका स्वरूप ऐसा नहीं है। सम्यग्दृष्टि आत्मा को भी स्वीकार करना पडता है कि अपनी इच्छा राग करने की नहीं है तो भी मोहनीय कर्म के उदय में कर्म

की बरजोरी से आत्मा में रागादिक हो ही जाता है। यह किसकी प्रधानता है ? निमित्त की या उपादान की ? अनंत वीर्य के धनी तीर्थंकर देवको भी अपने आत्मा के प्रदेश तीन लोक की बराबर कर्म के उदय से करना ही पडते हैं। यह किसकी महिमा है ? द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा चेतन प्राण से जीता है जब करणानुयोग कहता है कि आत्मा चार प्राणों से जीता है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा खाता नहीं है तब करणानुयोग कहता है कि आत्मा खाता है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा अमूर्तिक है तब करणानुयोग कहता है कि आत्मा मूर्त्तिक है। यदि मूर्त्तिक नहीं होता तो आत्मा को सुई लगनी नहीं चाहिये। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा असंख्यात प्रदेशी है जबकि करणानुयोग कहता है कि आत्मा स्वदेह प्रमाण है। द्रव्यानुयोग कहता है कि आत्मा ज्ञान से देखता है तब करणानुयोग कहता है आत्मा इन्द्रियों से देखता है। ज्ञानका क्षयोपशम होते हुए भी इन्द्रिय बिना कैसे देखेगा ? करणानुयोग कहता है कि ज्ञान चेतना चौथे गुणस्थान से स्वीकार करता है जब द्रव्यानुयोग ज्ञान चेतना तेरहवें गुणस्थान से स्वीकार करता है। करणानुयोग एक समय में एक गुण की मिश्र परिणति स्वीकार करता है। जितने अंशमें कर्मका अभाव हुवा है

उतने अंशमें तो ज्ञान धारा है और जितने अंश में कर्म का सद्भाव है उतने ही अंशमें कर्म धारा स्वीकार करती है। जैसे एक मनुष्यको १०५ डिग्री ज्वर था। उसीको दूसरे दिन दो डिग्री ज्वर कम हो गया। उस कालमें उसकी तबियत अच्छी है जैसा कहा जाता है। तोभी विचार करना चाहिये कि वह जीव दो डिग्रो ज्वर का अभावका सुख का वेदन करता है या १०३ डिग्री ज्वरका सद्भाव का वेदन करता है। परन्तु द्रव्यानुयोग एक समय में एक अवस्था को स्वीकार करता है। कहा भी है कि—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्म परिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥

अर्थ—द्रव्य जिस कालमें जिस भावसे परि मता है उसी कालमें वह तन्मय है ऐसा जिनेन्द्र देव कहता है इसलिए धर्म परिणत आत्मा धर्म जानना।

यद्यपि कथन अलग अलग अनुयोग से किया जाता है तो भी द्रव्य तो जो हैं सो ही हैं। द्रव्य के प्ररूपण करने की रीतियां दो प्रकार की हैं। एक निश्चयसे अर्थात् उपादान से कथन करना, दूसरी व्यवहार से अथवा निमित्त से कथन करना। उपादान से कथन करने से ही द्रव्य उपादान रूप

नहीं होजाता और निमित्त से कथन करने से द्रव्य निमित्त रूप नहीं हो जाता है। वह तो जैसा है तैसा ही है। उपादान से कथन करनेवाले की दृष्टि यथार्थ है, और निमित्त से कथन करनेवाली की दृष्टि निमित्ताश्रित है, ऐसा अभिप्राय करने वालों को यथार्थ ज्ञान नहीं है। यह तो मात्र कथन करने की शैली है, उस पर से सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि का निर्णय नहीं हो सकता है। आध्यात्मिक शास्त्रों से आगम शास्त्र बहुत हैं एवं दोनों प्रकार के शास्त्र एक ही आचार्य श्रीने बनाए हैं तब वहाँ सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि किसे कहोगे? कथन तो श्रुत ज्ञान की पर्याय है और दृष्टि श्रद्धागुण की पर्याय है। दोनों अलग २ गुणों की परिणति हैं। इसलिये कथन कोई भी अपेक्षा से किया जावे तो भी जिसकी दृष्टि यथार्थ है वही जीव सम्यग्दृष्टि है।

इसलिये अनुयोग के ज्ञान बिना ज्ञाता के अभिप्राय को नहीं जानने से जीव शास्त्राभ्यास करते हुए भी अज्ञानी ही रह जाता है इसलिये अनुयोग का ज्ञान करना मोक्षमार्ग में बहुत ही जरुरी है।

द्रव्यानुयोग—इस अनुयोग में प्रधान रूप से आत्मा की ओर से ही उपदेश दिया जाता है जो यथार्थ ही उपदेश है। इस उपदेश द्वारा ही आत्मा विशेष कर अपने कल्याण के

मार्गको समझ सकता है। इस अनुयोग में उपचार से कथन नहीं किया जाता है। जिस कारण से आत्मा दुखी है वही यथार्थ कारण कहा जाता है। आत्मा अपने ही कारण से दुखी है और अपने ही कारण से सुखी होता है। आत्मा को सुखी दुखी करने वाला अन्य कोई कारण संसार में नहीं है। अर्हंत देव निर्ग्रन्थ गुरु आदि कोई भी पद आत्मा का कल्याण नहीं कर सकता है। आत्मा का शत्रु-मित्र स्वयं आत्मा ही है। जैसे पेट में दर्द होने से चरणानुयोग कहेगा कि दाल खाने से पेट में दर्द होता है परन्तु चोके में दाल तो सबने खाई है। यदि दाल से दर्द होवे तो सबको दर्द होना चाहिये। करणानुयोग कहता है कि दर्द तो मात्र असाता के उदय से हुआ है। इसी प्रकार द्रव्यानुयोग कहता है कि महान असाता का उदय सुकौशल एवं गजकुमार मुनि को होते हुए भी उनने आत्मा की शान्ति एवं केवल ज्ञान की प्राप्ति की। इससे असाताका उदय पेट में दर्द होने का कारण नही है परन्तु अपना राग ही मात्र दुःख का कारण है। इसी प्रकार तीनों अनुयोग अपने २ पद में रहकर कथन करते हैं, तो भी तीनों अनु-योग एक दूसरे अनुयोग का निषेध नहीं करते हैं। यदि निषेध करते हैं तो एकान्त कथन करने से स्वयं मिथ्यात्व

आ जाता है। यदि आत्मा स्वयं रागादिक करता है तो वेदान्त मत वाले जैसे परमात्मा को स्वयं रागादिक कराकर संसार में जन्म लेना मनाते हैं, ऐसे सिद्ध परमात्मा को भी स्वयं रागादिक करा कर संसार में वापिस आने का प्रसंग आवेगा। इसलिये सब अनुयोगों को अपेक्षा से स्वीकार करना यही स्याद्वाद है और सम्यग्ज्ञान है।

द्रव्यानुयोग में प्रधानतया संवर निर्जरा का भेद नहीं पडता है, कारण कि सब गुणों की दो अवस्था होती हैं। १ शुद्ध २ अशुद्ध। परन्तु एक समय में एक ही अवस्था होगी। एक ही साथ में दो अवस्था अथवा मिश्र अवस्था द्रव्यानुयोग स्वीकार नहीं करता है जिस काल में ज्ञान गुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में अज्ञान भाव ही है और जिस काल में शुद्ध परिणमन करता है उसी काल में ज्ञान भाव है। इसी प्रकार जिस काल में चारित्र गुण अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में नियमसे आकुलता ही है, और जिस काल में चारित्र गुण शुद्ध परिणमन करता है उस काल में निराकुलता ही है। इससे सिद्ध होता है कि द्रव्यानुयोग में संवर निर्जरा का भेद नहीं है।

द्रव्यानुयोग में गुणस्थान आदि भेद नहीं होता है,

गुणस्थान का भेद तो करणानुयोग में ही होता है। जिस समय में आत्मा अशुद्ध परिणमन करता है उस काल में आत्मा संसारी है, और जिस समय में आत्मा शुद्धपरिणमन करता है उस समय में आत्मा की सिद्ध गति है। द्रव्यानुयोग पर पदार्थ को छोडने का उपदेश नहीं देता है। वह तो दुःख का कारण जो मिथ्यात्वादि आत्मा के परिणाम हैं उन्हें ही छोडने का उपदेश देता है। द्रव्यानुयोग में पर पदार्थ साधक बाधक नहीं होते हैं। वहाँ साधक बाधक मानना मिथ्यात्व है। पर पदार्थ को साधक बाधक अन्य अनुयोग मानता है और उसीका नाम व्यवहार है। इसीलिये शास्त्र की पद्धति व वर्णन व्यवस्थाका ज्ञान करना बहुत जरूरी है। इसलिये जिन जीवों को अपना कल्याण करने का भाव है उनको चारों अनुयोग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना चाहिये : आगम ज्ञान विना मात्र द्रव्य से मुनिलिंग भी धारण करना कार्य—साधक नहीं हो सकता है। यही बात भगवन् कुन्दकुन्द स्वामी ने भी प्रवचनसार ग्रन्थ के चारित्राधिकार में गाथा २३३ में कही है कि—

आगमहीणो समणो णेवापाणं परं वियाणादि।
अदिजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध भिक्खु ॥

अर्थ— आगम हीन साधु आत्मा और पर को नहीं जानता है । पदार्थ ज्ञान विना भिक्षु किस प्रकार कर्मों का नाश करेगा ?

आगमका भाव एवं सूत्र का अर्थ किस प्रकार जानना चाहिये ।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणिमोक्षमार्गः । उस का भी अर्थ करने में बहुत जीवों की गलती होती है । जैसे—

प्रश्न—सम्यग्दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुण स्थान में होगई, चारित्र की प्राप्त बारहवें गुणस्थान के पहले समय में होगई और केवल ज्ञान की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में हो जाती है तो भी आत्मा का मोक्ष क्यों नहीं हुआ ? क्योंकि सूत्रजी में तो लिखा है कि तीनों की एकता होने से ही मोक्ष होता है ।

उत्तर—आत्मा में अनंत गुण हैं, अनंत गुण कोजो धारण करे सो आत्मा है । आत्मामें चारित्र नामका भी गुण है । उस गुणकी शुद्धता होजाना इतनाही "चारित्र" का अर्थ नहीं लेना चाहिये, परन्तु आत्मा के संपूर्ण गुणों की शुद्धता होना उसी का नाम आत्मा का चारित्र है, और

ऐसी शुद्धता चौदहवें गुणस्थान के अंतिम समय में ही होती है। चारित्र नामक गुण की शुद्धता बारहवें गुणस्थान के प्रथम समय में होती है परन्तु अव्याबाध गुण अवगाहना गुण, सूक्ष्मत्वगुण, अगुरुलघुगण, अमूर्त्तत्वगुण और निष्क्रियत्व गुण की शुद्धता चौदहवें गुणस्थान के अंतमें ही होती है। ऐसी शुद्धता का नाम आत्माका चारित्र है ऐसी शुद्धता होते ही आत्मा सिद्ध पदकी प्राप्ति कर लेता है।

आत्मा में अनंत गुण हैं इनमें से जैसे ज्ञान और दर्शन चेतना देखने का गुण है वैसेही लब्धि और उपयोग रूप रहते हैं, ऐसा आगम में लिखा है। यह सोचकर बहुत से जीव श्रद्धादि गुणोंको भी लब्धि व उपयोग रूप मान-लेते हैं एवं अपने बनाये हुये शास्त्र में भी लिख देते हैं। परन्तु यह विचार नहीं करते हैं कि ज्ञान और दर्शन चेतना को लब्धि और उपयोग रूप किस अपेक्षा से कहा है और इसका क्या कारण है? इस विषयका ज्ञान न होने से श्रद्धागुण-सम्यग्दर्शन को भी लब्धि और उपयोग रूप मान लिया करता है। जैसे श्रेणिक राजा क्षायक सम्यग्दृष्टि था परन्तु जब उसने आत्मघात किया तब उसका सम्यग्दर्शन लब्धि रूप था परन्तु उपयोग रूप नहीं था—यह

उसका कहना गलत है अर्थात् अज्ञान भाव है। क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में आत्मा का ज्ञान पराधीन है इसलिये ज्ञान करने में पांच इन्द्रिय और द्रव्य मनकी सहायता लेनी पडती हैं। इस अपेक्षा से ज्ञान और दर्शन चेतनामें लब्धि और उपयोग का भेद पडता है अर्थात् जिस इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है, बाकी की इन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है। अथवा जब मति ज्ञान उपयोग रूप है तब श्रुतादि और ज्ञान लब्धिरूप हैं, परन्तु श्रद्धादि गुणों का देखना जानना आदि कार्य नहीं है। वह तो मिथ्यात्व रूप हो या सम्यग्-दर्शन रूप हो, दो में एक अवस्था तो जरुर रहेगी। यदि सम्यग्दर्शन रूप अवस्था हो तो खाते पीते भोगकरते सोते समय श्रद्धा गुण की सम्यग्दर्शन रूप अवस्था तो है वह गुण अवस्था बिना तो रहता ही नहीं, इसी कारण श्रद्धादि गुणों में लब्धि और उपयोग का भेद पडता ही नहीं है परन्तु लब्धि और उपयोग का भेद मात्र ज्ञान तथा दर्शन चेतना में ही पडता है ऐसी श्रद्धा रखना चाहिये।

चतुर्थ गुणस्थान में क्षायक सम्यग्दर्शन प्राप्त हुए बाद जैसे २ गुणस्थान बढता है ऐसी २ सम्यग्दर्शन में भी स्वच्छता की वृद्धि होती है ऐसी अमुक जीवों की धारणा है एवं अपने बनाये शास्त्र में इसी प्रकार लिख भी देते हैं—

कि चतुर्थ गुणस्थान में जो क्षायक सम्यग्दर्शन है वह क्षायक सम्यग्दर्शन बढते २ तेरहवें गुणस्थान में बहुत वृद्धि को प्राप्त होता है। अर्थात् जाज्वल्यमान ज्योति रूप होता है। यह सब मिथ्या भ्रम है। किस कर्म ने सम्यग्दर्शन की वृद्धि को रोक रखी थी कि पीछे से सम्यग्दर्शन में जाज्वल्यमान ज्योति रूप वृद्धि हो गई? विचार तो करो कि जहाँ प्रतिपक्षी कर्म ही नहीं हैं तब गुण में वृद्धि किस कारण से होती है। शुद्ध अवस्था में षट्गुण-हानि वृद्धि होती है वह तो स्वभावरूप परिणति है। इसमें तो वृद्धि और हानि रूप अवस्था होते विकार की वृद्धि और हानि नहीं है वह तो सहज स्वाभाविक अनादि अनंत अवस्था है। ऐसी षट्गुण हानि वृद्धि तो सर्व द्रव्यों में होती रहती है क्योंकि पदार्थ का स्वभाव ही ऐसा है। चतुर्थ गुण स्थान में जो क्षायक सम्यग्दर्शन है वही क्षायक सम्यग्दर्शन केवली तथा सिद्ध परमात्मा में है, क्षायक सम्यग्दर्शन में किंचित् फर्क नहीं है। फर्क तो तब हो सकता है जब सामने रोकने वाले प्रतिपक्षी कर्म का सद्भाव हो, परन्तु क्षायक सम्यग्दर्शन में प्रतिपक्षी कर्म का अत्यंत अभाव है, जिस कारण उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं होती है।

परमात्म प्रकाश ग्रन्थ में सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ऐसा जो दो भेद बताया है वह तो चारित्र की अपेक्षा से ही रखा है परन्तु सम्यग्दर्शन में सरागता और वीतरागता होती ही नहीं है, क्योंकि सरागता और वीतरागता तो चारित्र गुणकी पर्याय है न कि श्रद्धागुणकी। बुद्धि पूर्वक रागका सम्यग्दर्शन में आरोपकर सराग सम्यग्दर्शन कह दिया जाता है, और अबुद्धि पूर्वक रागका सम्यग्दर्शन में आरोपकर कहा जाता है कि वीतराग सम्यग्दर्शन। परन्तु यथार्थ में सम्यग्दर्शन में न सरागता है न वीतरागता है, वह तो श्रद्धा नाम के गुण की एक शुद्ध निर्मल पर्याय है। सराग और वीतरागता का भेद चारित्र गुण में ही पड़ता है।

सम्यग्दर्शन को अवगाढ और परम अवगाढ जो कहा जाता है वह भी पर गुणों की अपेक्षासे कहता जाता है। सम्यग्दर्शन में तो न अवगाढ पना है न परमावगाढपना आता है। वह तो जो है सोही है। परन्तु चारित्र गुण की शुद्धता अर्थात् वीतरागता होने से उसका सम्यग्दर्शन में अरोप कर अवगाढ सम्यग्दर्शन कहा जाता है, और ज्ञान-गुण की शुद्ध अवस्था होने से अर्थात् केवल ज्ञान होने से उसका आरोप सम्यग्दर्शन में परमावगाढ सम्यग्द-

र्शन कहा जाता है परन्तु सम्यग्दर्शन में अवगाढ और परमावगाढ रूप शुद्धता भी बढती नहीं है वह तो जैसी है वैसी ही है।

उसी प्रकार यथाख्यात चारित्र की पूर्णता ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान के पहले समय में हो जाती है परन्तु चौदहवें गुणस्थान में परम यथाख्यात जो कहा जाता है वह तो पर गुणकी अपेक्षा से कहा जाता है। योग गुण की शुद्धता का आरोप चारित्र में कर कहा जाता है कि परम यथाख्यात चारित्र है तो भी चारित्र गुण में शुद्धता का कुछ बटवारा होता हो ऐसा नहीं है। यथाख्यात चारित्र तो जैसा है वैसा ही है परन्तु परम यथाख्यात चारित्र मात्र योग गुण की शुद्धता की अपेक्षा से कहा जाता है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन होने में किसकी वाणी बाह्य निमित्त पडती है अर्थात् निश्चय सम्यग्दृष्टि की या व्यवहार सम्यग्दृष्टि की ?

उत्तर—जिस जीवको देशना लब्धि प्राप्त हो चुकी है अर्थात् जो जीव को छह द्रव्य, नौतत्व, पंचास्तिकाय आदिक का शाब्दिक ज्ञान है, भाव ज्ञान नहीं है ऐसा अभवी जीव के मुख से जो यथार्थ वाणी निकलती है वह वाणी सम्यग-

दर्शन होने में कारण कही है। ऐसी वाणी जिसके मुखसे निकलती है ऐसा जीवोंको व्यवहार सम्यग्दृष्टि कहा है। दर्शन पाहुड गाथा २६ में कहा भी है कि—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रुवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥

अर्थ—छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पांच अस्तिकाय, सप्त तत्व यह जिन वचन में जैसे कहे हैं तिनका स्वरूप को जो श्रद्धान करे सो व्यवहार सम्यग्दृष्टि जानना।

शंका—व्यवहार सम्यग्दृष्टि की वाणी सम्यग्दर्शन में कारण कैसे पड सकती है क्योंकि कहा है कि सत को सत निमित्त होता है परन्तु असत निमित सत को नहीं होता है?

समाधान—वक्ता का भाव सुना नहीं जाता है परन्तु श्रोता वक्ता की वाणी सुनते हैं। वह वाणी शुभ योग है। और वही व्यवहार सम्यग्दृष्टि का वचन रूप शुभ योग देशना लब्धि में कारण पडती है, परन्तु व्यवहार सम्यग्दृष्टि का भाव आनको कारण नहीं पडता है। वचन योग शुभ हो और भाव मलीन हो सकता है। जैसे एक मनुष्य सुंदर कंठ से भक्तामर स्तोत्र मंदिर में बोल रहा है और उस का भाव स्त्रीके रूप देखने में है। ऐसे जीवका वचन योग

सुनकर दूसरा जीव पुण्य बांध सकता है परन्तु उसका भाव देखकर पुण्य नहीं बांधता है। इसी प्रकार व्यवहार सम्यग्दृष्टि का शुभ वचन योग देशना लब्धि में कारण पडता है परन्तु उसका भाव नहीं।

जैसे अव्रती सम्यग्दृष्टि में वर्तमान में मुनि पर्याय का भाव नहीं है तो भी वचन द्वारा वह कह सकते हैं कि मुनि पर्याय ऐसी होती है। वह उसका कहना क्या सत्य नहीं है? परन्तु उसका उस वचन अनुकूल भाव नहीं है। जैसे गौतम गणधर ने वचन द्वारा सूक्ष्म सांपरायका, वीतराग दशा का और केवल ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादन कर दिया तो क्या उस का भाव तद्रूप है? नहीं है, तो भी उस का वचन केवलज्ञान होने में परंपरा कारण है। ऐसे ही व्यवहार सम्यग्दृष्टि का वचन योग देशना लब्धि में साक्षात् कारण है और सम्यग्दर्शन होने में परंपरा कारण है।

जैसे अंधे आदमी के पास में जलती लालटेन है, वह अंधे को रास्ता दिखाने में निमित्त नहीं है तो भी वह लालटेन दूसरे जीवों को रास्ता दिखाने में बाह्य निमित्त जरूर है।

वाणी निश्चय सम्यग्दृष्टि की ही होनीचाहिये, ऐसा कहना योग्य नहीं है, क्योंकि निश्चय सम्यग्दृष्टि स्वय जब मिथ्यात्व में चलाजाता है तब तुरन्त उसे भी ज्ञान नहीं

होता। तब हम पर जीव कैसे निश्चय से कह सकते हैं कि यह निश्चय सम्यग्दृष्टि ही है। यह कहना अपने ज्ञानका विषय नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि देशना लब्धि व्यवहार सम्यग्दृष्टिसे वाणी सुनने से आप वह वाणी धारणा में लावे तो बाह्य निमित्त बन सकती है। यदि आप धारणा में न लावे तो साक्षात् तीर्थंकर देवकी दिव्य ध्वनि भी देशना लब्धि में अकार्यकारी है। सम्यग्दर्शन होने में वाणी साक्षात् कारण नहीं है परन्तु परम्परा कारण है। क्योंकि देशना लब्धि तो अभव्य जीवको भी हो सकती है तो भी अभव्य जीवको सम्यग्दर्शन कभी भी नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुवा कि वाणी परम्परा कारण है।

अमुक जीवों की ऐसी धारणा है कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त आत्मा स्वयं है एवं अमुक जीव कहते हैं कि अभ्यन्तर निमित्त पर सम्यग्दर्शन आत्मा है, ऐसा उनका कहना एवं शास्त्रों में लिख देना उचित नहीं है। प्रथम तो आत्मा यदि अभ्यन्तर निमित्त होता है, तो आत्मा तो त्रिकाली द्रव्य है वह अभी तक निमित्त होकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति क्यों न करदी ? सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का है। १ उपशम २ क्षयोपशम ३ क्षायक। आत्मा एक है, और सम्यग्दर्शन तीन प्रकार का कैसे

हो सकता है ? इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन होने में आत्मा अभ्यतन्र निमित्त नहीं है। दूसरा पक्ष कहता है कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त पर-सम्यग्दृष्टि आत्मा है। परन्तु पर आत्मा अपना अभ्यन्तर निमित्त कैसे हो सकता है क्योंकि पर आत्मा के साथ में अपना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नहीं है। अपना निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध तो अपना ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म है न कि पर जीव। इससे सिद्ध होता है, कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम एवं क्षय है। नियमसार ग्रन्थ में गाथा ५३ में भी कहा है कि—

सम्मत्तस्स णिमित्तं, जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा
अंतरहेयो भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन होने में बाह्य निमित्त जिनवाणी तथा जिनवाणी के ज्ञानवाले पुरुष हैं और सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षयोपशम तथा क्षय है।

समयसार पुण्य अधिकार में गाथा १६१ में कहा भी है कि—

सम्मत्तपडिणिवद्धं मिच्छतं जिणवरेहि परिकहियं ।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्यो ॥

अर्थ—सम्यक्त्वका रोकनेवाला मिथ्यात्व कर्म है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है। उस मिथ्यात्व कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि हो जाता है, ऐसा जानना चाहिये।

इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन होने में अभ्यन्तर निमित्त न स्वयं आत्मा है और न पर सम्यग्दृष्टि आत्माएँ हैं परन्तु दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम और क्षयोपशम अभ्यन्तर निमित्त है।

अमुक जीवों की ऐसी श्रद्धा हैं एवं अपने बनाये हुये शास्त्र में लिख भी देते हैं कि श्रद्धा में जोर मारने से चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रकट होती है। ऐसा जीवोंको अनेकांत का स्वरूप का ज्ञान न होने से वह अप्रतिबुद्ध आत्मा है। प्रथम तो चारित्र गुण में श्रद्धा गुणका अन्योन्य अभाव है। दूसरी बात यह है कि श्रद्धा गुण में यदि जोर मारने से चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती है तो सर्वार्थ सिद्धि के देवता श्रद्धावान हैं वह वहां श्रद्धामें जोर मार कर पंचमादि गुणस्थान रूप चारित्र गुण

की निर्मल पर्याय क्यों नहीं प्रगट करता है ? तेतीस सागर तक उसने श्रद्धा में जोर क्यों नहीं मारा ? तीसरी बात यह कि श्रद्धा में जोर मारा ही नहीं जाता है । श्रद्धा तो एक ही प्रकार की होती है ? श्रद्धा तो लक्षबिन्दु का नाम है और लक्षबिन्दु एक ही रहता है । जैसे चारित्र गुण अंश २ में शुद्धता प्रगट करता है ऐसे श्रद्धा गुण में बटवारी होती ही नहीं है । वह जैसा चतुर्थ गुणस्थान में प्रगट होता है वैसा ही केवल ज्ञान में भी है एवं सिद्ध परमात्मा में भी है । इससे सिद्ध होता है कि श्रद्धा में जोर मारा ही नहीं जाता है, परन्तु जितना २ अंश में रागद्वेष की निवृत्ति होती जाती है उतना २ अंश में चारित्र गुण में निर्मलता प्रगट होती है । परन्तु जिनका रागद्वेष छोडने का अभिप्राय नहीं है और निर्मल प्रवृति करना है वह जीव बकते हैं कि श्रद्धा में जोर मारने से चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती है ।

लक्ष नियम से एक ही होता है । लक्ष में बटवारी कभी भी नहीं होती है । सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में लक्ष-बिन्दुका तो अन्तर है । सम्यग्दृष्टि का लक्ष निरंतर ज्ञायक स्वभाव पर ही रहता है वह उसको कोई भी अवस्था में भूलता ही नहीं है । और मिथ्यादृष्टि तो मैं ज्ञायक स्वभावी

हूं-यह जानता श्रद्धता ही नहीं है। वह तो जीवतत्त्व को छोड कर अन्य तत्त्वको ही आत्म तत्त्व मान रहा है। जैसे सुनार के लक्ष में सौटंच का सोना निरंतर रहता है—खाते वख्त, पीते वख्त, सोते वख्त, लडाई करते वख्त, वह उस को भूलता ही नहीं है। सौटंच को ही यथार्थ सोना जानता है, मानता है, परन्तु अशुद्ध सोने को सौटंच नहीं मानता है, नहीं जानता है। ऐसे ही सम्यग्दृष्टि आत्मा मात्र जीव तत्व को अर्थात् ज्ञायक स्वभाव को ही अपना खास स्वरूप मानता है, श्रद्धता है। वह उसको खाते पीते सोते बैठते लडाई करते, भोग करते भूलता ही नहीं है। वह ज्ञायक स्वभाव में जोर क्या मारता है वह तो जैसा है तैसा ही तीनों काल में है, परन्तु मिथ्यादृष्टि अजीवतत्त्व को जीव तत्त्व मानता है अर्थात् संयोगी पुद्गलीक पर्याय को आत्मा मान रहा है। यह दोनों में फर्क है-अन्तर है।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवलानि ज्ञानम् (६-१) तत् प्रमाणे (१०-१) आद्ये परोक्षम् (११-१) प्रत्यक्षमन्यत् (१२-१) "इसमें बहुत जीव महान गलती करते हैं और अपने बनाये हुए शास्त्रों में लिखते हैं कि—"अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।" परन्तु विचार भी

नही करते हैं कि उसमें दो ज्ञान अवधि और मनःपर्यय क्षयोपशम ज्ञान हैं वह प्रत्यक्ष कैसे हो सकते हैं ? अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान को वे इन्द्रियाँ एवं मन की सहायता बिना जानता है ऐसा लिखते हैं । परन्तु इसमें उनकी महान गलती ही है । अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञानको जो एक देश प्रत्यक्ष कहा है उसका इतना ही अर्थ है कि अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में इन्द्रियों की सहायता की जरूरत नहीं है, परन्तु क्षयोपशम ज्ञान होने से वहां मन की सहायता जरूर लेनी ही पडती है । यदि मन की सहायता न लीजाये तो अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान क्षयोपशम शक्ति होते हुए भी वह ज्ञान उपयोग रूप कार्य नहीं कर सकता, मात्र सत्ता रूप लब्धि में रहेगा : उपयोग में तब ही कार्य करेगा जब मन की सहायता ली जावेगी । जब तक क्षयोपशम ज्ञान है तब तक अज्ञान भाव कहा है और सञ्ज्ञी मार्गणा क्षयोपशम ज्ञान तक ही मानी जाती है । क्षायक ज्ञान में न संज्ञी और न असंज्ञी पना है परन्तु दोनों विकल्पसे रहित है । क्षयोपशम ज्ञान को सापेक्ष ज्ञान कहा जाता हैं और सापेक्षका यही अथ है कि देखने में परकी अपेक्षा रखे। उसीका नाम सापेक्ष है । परन्तु निरपेक्ष ज्ञान तो मात्र क्षायक

ज्ञान है जो देखने में कोई की अपेक्षा नहीं रखता है, परन्तु आत्मा के सर्व प्रदेशों से त्रिकालवर्ती चराचर सर्व पदार्थों को समय मात्र में जानता है। इससे सिद्ध होता कि अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान क्षयोपशम ज्ञान होने से पराधीन ज्ञान हैं और उनमें द्रव्य मन की सहायता ली जाती है। पंचाध्याय के पूर्वार्ध खण्ड की गाथा ६९९–७०५ में भी यह बात लिखी हैं। एवं प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानाधिकार की गाथा ५७ में भी यह बात सिद्ध की है।

तत्त्वार्थ सूत्र में लिखा है कि–"मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च" (३१-१) यह सूत्र निमित्त की अपेक्षा से बनाया गया है। यथार्थ में विचारा जाय तो ज्ञान कभी भी मिथ्यात्व रूप होता ही नहीं है। क्योंकि मिथ्यात्व श्रद्धा गुण की पर्याय है, जब मति श्रुत अवधि आदि ज्ञान गुण की पर्याय है। श्रद्धा गुणको घात करने वाली मिथ्यात्व नाम की द्रव्य कर्म की प्रकृति है। जब ज्ञान गुण को घात करने वाली पांच ज्ञानावरण द्रव्य कर्म की प्रकृति है जिस कारण से ज्ञानगुण की अवस्था भी पांच ही होती है। (१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान (३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्यय ज्ञान (५) केवलज्ञान। परन्तु कुमति कुश्रुत और कुअवधि नाम की न ज्ञान की अवस्था है और

व उस प्रकार की ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति हैं। ज्ञान को जो मिथ्या ज्ञान कहा जाता है वह तो श्रद्धागुण की मिथ्यात्व की पर्याय की अपेक्षा से कहा जाता है। सम्यग्दर्शन होने से उसी ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहा जावेगा। और मिथ्यादर्शन होने से वही ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जावेगा। यथार्थ में ज्ञान तो जो है सो ही है। ज्ञान तो कभी सम्यक् और मिथ्या होता ही नहीं है। जैसे मनुष्य के पास धन होने से उसको धनी कहा जाता है और धन के अभाव में उस ही मनुष्य को निर्धन कहा जाता है। तो भी मनुष्य तो वही का वही है, धनी और निर्धन धन की अपेक्षा से ही कहा जाता है। उसी प्रकार ज्ञान को मिथ्या और सम्यक् सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की अपेक्षा से कहा जाता है तो भी ज्ञान तो जो है वही है।

ज्ञानका कार्य मात्र जानना ही है। ज्ञानको जो संशय आदि दोष दिया जाता है वह भी पर द्रव्यों की अपेक्षा से ही यथार्थ में दिया जाता है। ज्ञान में कभी दोष होता ही नहीं है। जैसे जेवडी में सर्प की कल्पना करना ज्ञानका दोष कहा जाता है। परन्तु यथार्थ में विचारा जावे तो ज्ञान के परिणमन में ज्ञान ने सर्प रूप ही परिणमन किया है, यदि ज्ञान में सर्प रूप परिणमन नहीं होता तो सर्प

को मानकर भय क्यों उत्पन्न होता। परन्तु भय होता है और भय से बचने की कोशिश भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान ने सर्प रूप ही परिणमन किया है। परन्तु जेवडी की अपेक्षा से ज्ञान को विपरीत ज्ञान कहा जाता है तो भी ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञान सत्य ही है। ज्ञानका कार्य मात्र जानना ही है। जितना कम जानता है वही मात्र ज्ञानका दोष है और ऐसा होना प्रतिपक्षी कर्मों के कारण से हो रहा है। जितना अंश में कर्मों की सत्ता है उतने अंशों में ज्ञानकी नियम से हीन पर्याय है और ज्ञाना-वरण द्रव्य कर्म के अभाव में ज्ञान की पूर्ण अवस्था हो जाती है।

समयसार ग्रन्थ में लिखा है कि बन्ध के कारण मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरत भाव हैं। यहाँ अज्ञान का अर्थ यदि मिथ्यात्व किया जावे तो भी गलत है क्योंकि मिथ्यात्व तो अलग बन्धका कारण दिखाया है तब अज्ञान को मिथ्यात्व कहना उचित नहीं है। तब क्या अज्ञान का अर्थ ज्ञान का न होना करना चाहिये ? यदि ज्ञानका न होना किया जावे तो ज्ञान का होना या न होना बंधका कारण नहीं है। यदि ज्ञान का हीनपना और ज्ञानका विशेषपना बन्धका कारण माना जावे तो हीनज्ञानवाले को बहुत बन्ध और विशेष ज्ञान

वालों को कम बन्ध होना चाहिये। परन्तु ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है क्योंकि मुनि के हीन ज्ञान है और बन्ध भी कमती है और सर्वार्थसिद्धि देवके ज्ञानशक्ति बहुत होते हुए भी बन्ध विशेष है। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान का कम और विशेष होना बन्ध का कारण नहीं है। अज्ञान का अर्थ कषाय सहित ज्ञान उपयोग का नाम है। अर्थात् जिस ज्ञान के पीछे कषाय का पुञ्ज है उसीका नाम अज्ञान है और कषाय बन्ध का ही कारण है यह न्याय से सिद्ध होता है।

ज्ञानका कार्य घूम के देखना नहीं है परन्तु ज्ञानके पीछे इच्छाएँ लगी हैं जिससे ज्ञान स्थिर न रहकर छिप कर देखता है। इसमें जो इच्छाएँ हैं वे ही अज्ञान उपयोग कही जाती हैं।

नियमसार ग्रन्थ में शुद्धोपयोगाधिकार में प्रश्न उठाया गया है कि (गाथा नं॰ १६१) दर्शन चेतना आत्माको जानती है और ज्ञान चेतना पर पदार्थ को जानती है। इस का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा को ज्ञान चेतना जानती ही नहीं है। इसका ठीक २ ज्ञान करना चाहिये। यथार्थ में तो आत्माका दर्शन चेतना सामान्य अवलोकन करती है और ज्ञान चेतना विशेष अवलोकन करती है। स्व आत्मा

की अपेक्षा से दर्शन चेतना आत्मा को अखण्ड देखती है, जिसे देखने में गुण गुणी भेद नहीं है, गुण पर्याय भेद नहीं है, परन्तु अभेद रूप आत्मा को अखण्ड रूप में देखती है। अर्थात् ज्ञानधन रूप चैतन्य पिंड देखती है। यही देखना समयग्दर्शन अर्थात् श्रद्धान का विषय है अर्थात् लक्ष है जिसको जीव तत्व कहा जाता है। इस रूप से देखने का नाम सामान्य अवलोकन है। ज्ञान चेतना आत्मा के अनंत गुण तथा उसकी पर्याय को जानती है। दर्शन चेतना ने अखण्ड आत्मा को देखा और ज्ञान चेतना ने अनंतगुण पर्याय का विशेष समूह रूप जो आत्म-द्रव्य है उसको देखा। अर्थात् दोनों ने आत्मा को देखा है। पर द्रव्य की अपेक्षा से दर्शन चेतना एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय को देखने के लिये ज्ञानोपयोग लगाता है तब एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय के बीच में जो क्षेत्र और कालका अंतर पड़ता है उसका नाम सामान्य अवलोकन है जिसे देखना निर्विकल्प रूप है और ज्ञान चेतना ज्ञेयको देखता है उसीका नाम विशेष अवलोकन है। दर्शन चेतना ने जो सामान्य अवलोकन किया। वह यथार्थ में वचन से अगोचर है तो भी ज्ञान में अधिकता है और ज्ञेय को देखता है वह ज्ञान का ही काय है।

नियमसार ग्रन्थ के जीवाधिकार की गाथा १५ की टीका में अखण्ड त्रिकाल कारण शुद्ध पर्याय आत्मा में है, ऐसा लिखा है। इसके विषय में किसी २ की ऐसी धारणा है कि त्रिकालिक शुद्ध कारण पर्याय कूटस्थ है। परन्तु सोचिए तो सही की कोई वस्तु संसार में कूटस्थ नहीं है क्योंकि सर्व पदार्थ सत हैं और सत का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। सो कूटस्थ मानना न्याय युक्त नहीं है। ऐसी कूटस्थ अवस्था मानने वाले जीवने सब पदार्थ परिवर्तनशील हैं, ऐसा माना नहीं। उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य एक समय की अवस्था है। एक समय की अवस्था होते हुए भी तीनों ही स्वतत्र हैं। उत्पाद् है वह व्यय और ध्रौव्य नहीं है। व्यय है वह उत्पाद्-ध्रौव्य नहीं है, और ध्रौव्य है वह उत्पाद्-व्यय नहीं है। वस्तु का स्व भाव ही ऐसा है। अब सोचिए आपको तीन में से अर्थात् उत्पाद्-व्यय-ध्रौव्य में से एक का ही ज्ञान होना चाहिये ? अर्थात् जब उत्पाद् का ज्ञान करोगे तब व्यय का ज्ञान नहीं होगा। और ध्रौव्य का ज्ञान करोगे तब उत्पाद्-व्यय का ज्ञान नहीं होगा। वस्तुका स्वरूप ऐसा होते हुए भी छद्मस्थ जीवों को भूत और भविष्य का ज्ञान होता है। उस का क्या कारण है ? इस पर विचार करने से प्रतीत

होता है कि जो हमको भूत भविष्य का ज्ञान कराता है वही अखण्ड त्रिकाली कारण शुद्ध पर्याय है। वह कारण शुद्ध पर्याय न होवे तो एक समय के पहले की अवस्थाका ज्ञान नहीं हो सकता है इसलिय अखण्ड अनादि अनंत त्रिकालिक कारण शुद्ध पर्याय कूटस्थ नहीं है, परन्तु परिणमनशील है और वह सब जीवात्मा में है।

शंका—अखण्ड त्रिकालिक कारण शुद्ध पर्याय कूटस्थ है वह तो द्रव्यार्थिक नय से कहा है ?

समाधान—कारण परमात्मा द्रव्यार्थिक नयका विषय है परन्तु कारण पर्याय द्रव्यार्थिक नय का विषय नहीं है। क्योंकि यह पर्यायार्थिक नय का विषय है। मूल गाथा भी तो पर्यायार्थिक नय का विषय है इसकी टीका भी तो पर्यायार्थिक नय से की जावेगी या द्रव्यार्थिक नय से, विचारना चाहिये। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय दोनों परस्पर विरोधी हैं। देखिये मूल गाथा—

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा
कम्मोपाधिविवज्जिय, पज्जाया ते सहाव मिदि भणिदा

अर्थ—नर नारकी तिर्यंच और देव ये चार विभाव पर्याय कही गई हैं, जो पर्याय कर्मोंकी उपाधि से रहित है

वह स्वभाव पर्याय है।

तत्वार्थ सूत्र में लिखा है कि "लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्" (२-१४) इस का ठीक २ अर्थ समझना चाहिये। लब्धि किसका नाम है और उपयोग किसका नाम है। ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से जो ज्ञान की प्राप्ति हुई वह तो लब्धि है। लब्धि आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों में समान पाई जाती है। अमुक प्रदेशों में लब्धि है और अमुक प्रदेशो में लब्धि नहीं है ऐसा वस्तुका स्वभाव नहीं है। क्योंकि आत्मा अखण्ड द्रव्य है, आत्मा का असंख्यात प्रदेश २ टुकडा नहीं है। छद्मस्थ जीवों का ज्ञानोपयोग पराधीन है, अर्थात् इन्द्रियों के आधीन ज्ञान होता है। जिस समय आत्मा मतिज्ञान से देखता है उसी समयमें श्रुत ज्ञान लब्धि रूप है और जब आत्मा श्रुत ज्ञान से देखता है तब मतिज्ञान लब्धि रूप है। जिस समय आत्मा जिस इन्द्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है उस समय उसी इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है और बाकी की इन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है। जिस समय आत्मा चक्षु इन्द्रिय द्वारा तीर्थंकर की प्रतिमा देखता है उस समय हमारा ज्ञान चक्षु इन्द्रिय में उपयोग रूप है और शेष इन्द्रियों में ज्ञान लब्धि रूप है। जिस समय में डाक्टर हाथ के अमुक भाग में इनजेक्शन

मार के चमडी खराब अर्थात् मुर्दा रूप बना देता है तब उतने भाग में ज्ञान नहीं होता है, परन्तु बाकी के भाग से ज्ञान होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इतने हिस्से में आत्मा नहीं है परन्तु चमडो खराब होजानेसे इतने ही हिस्से में आत्माका ज्ञान लब्धि रूप है और बाकी के हिस्से में उसी इन्द्रिय में ज्ञान उपयोग रूप है। जिस समय डाक्टर एक मनुष्य का ऑपरेशन करता है उस वख्त क्लोरोफार्म सुंघाता है उस के बाद मनुष्य को किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता है, इस का यह अर्थ नहीं है कि आत्मा ज्ञान रहित होगया है। परन्तु क्लोरोफार्म द्वारा जड इन्द्रियाँ खराब होजाने से आत्मा के ज्ञान निमित्त के अभाव से उपयोग रूप कार्य नहीं करता है परन्तु उसी काल में ज्ञान लब्धि रूप है। भगवन कुन्दकुन्द स्वामी ने भी ज्ञान की पराधीनता की बात श्री प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानाधिकार की गाथा ५५ आदि में कहा है कि—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि॥

अर्थ—स्वयं अमूर्त आत्मा मूर्त शरीर के प्राप्त होने से मूर्त शरीर द्वारा योग्य मूर्त पदार्थ को अवगृहीत कर

इसको जानता है अथवा नहीं जानता है, अर्थात् कभी जानता है कभी नहीं जानता है। यही बात पंचाध्यायी ग्रन्थ में गाथा ३००–३०१ में भी कहा है कि—

ऐतेषु हेतुभूतेषु सत्सु सद्भान् संभवात्।
रुपेणैकेन हीनेषु ज्ञानं नार्थोपयोगि तत् ॥३००॥
अस्ति तत्र विशेषोऽयं विना बाह्यं न हेतुना।
ज्ञानं नार्थोपयोगीति लब्धिज्ञानस्य दर्शनात्।३०१।

अर्थ–पंचेन्द्रिय कर्म, मानसकर्म, पर्याप्तकर्म, इन्द्रियादिक की रचना, सूर्यादिक का प्रकाश अन्य देशस्थ संस्कार आदि समस्त निमित्तों के सद्भाव में ही वस्तु का ठीक २ ज्ञान होना सभव है। यदि इन कारणों में से कोई भी निमित्त कम हो तो पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। यहां पर इतना विशेष समझना चाहिये कि क्षयोपशम (लब्धि) ज्ञान के होने पर भी बिना बाह्य कारणों के निमित्तों के मिले पदार्थ का ज्ञान (उपयोग रूप) नहीं हो सकता है।

आत्मा तीन काल में उपयोग छोड कुछ करता ही नहीं है ऐसा अमुक महाशयो की धारणा है। इतना ही नहीं बल्कि अपने बनाये हुए शास्त्रों में भी ऐसा लिख दिया

है। यह उन का कहना एवं लिखना आगम विरुद्ध है। क्योंकि ससार अवस्था में आत्मा योग अर्थात् अपना आत्मीक प्रदेशों का हलन चलन करना, और उपयोग अर्थात् पुण्य भाव पाप भाव और वीतराग भाव ये दोनों कार्यों का कर्ता है, और मोक्ष अवस्था में मात्र वीतराग भाव रूप उपयोग का ही कर्त्ता है। योग को संसार अवस्था में कर्त्ता नहीं माना जायतो सब क्रिया जडकी होती है ऐसा मानने का प्रसंग आता है। आत्मा की क्रिया को जड की क्रिया मानना मिथ्यात्व भाव है। केवली परमात्मा का उपयोग शुद्ध होने पर भी उनके बचन और काय योग है इससे सिद्ध हुवा कि आत्मा संसार अवस्था में योग तथा उपयोग का कर्ता है।

पंचाध्यायी उतरार्द्ध में गाथा नं ४०७ में स्वानुभूति को ज्ञान की पयोय उपचार से कही है। यथार्थ में स्वानुभूति मतिज्ञान की पर्याय नहीं है। मति ज्ञान का कार्य अनुभव करना, जानना है। परन्तु मतिज्ञान का विषय सुख रूप होना या दुःख रूप होना नहीं है। सर्व अवस्था को ज्ञान ही जानता है। इसी कारण सर्व व्यवहार का आरोप ज्ञान में ही क्रिया जाता है। परन्तु सुख का काय मतिज्ञान का नहीं हैं। एवं आकुलता एवं अनाकुलता ज्ञान की पर्याय नहीं

है वह तो चारित्र गुण की पर्याय है। जैसे २ गुणस्थान बढ़ता है उसी प्रकार स्वानुभूति भी बढ़ती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मतिज्ञानकी पर्याय विशेष बढती है। जैसे शिवभूति मुनिको मतिज्ञान महाहीन था परन्तु चतुर्थगुणस्थान से उनमें स्वानुभूति विशेष थी इससे साबित होता है कि स्वानुभूति मतिज्ञान की पर्याय नहीं है परन्तु चारित्र की पर्याय है। सर्वार्थसिद्धि के देवको परम शुक्ल लेश्या है परन्तु उसकी जो स्वानुभूति है उससे महान विशेष स्वानुभूति मुनि महाराज को भोजन वक्त पीत लेश्या में है। यद्यपि ज्ञानकी पर्याय सर्वार्थसिद्धि देवको विशेष है परन्तु स्वानुभूति मुनि महाराज जितनी नहीं है। ज्ञानावरण कर्म में स्वानुभूति नाम का कर्म नहीं है, परन्तु यथार्थ में अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में स्वरूपाचरण चारित्र होता है उसीका नाम तो स्वानुभूति है अर्थात् वह चारित्र गुण की पर्याय है। शास्त्रों में कहा है कि ज्ञानोपयोग दूसरी जगह पर होता है तो भी स्वानुभूति तो नियम से आत्मा में रहती है। इससे भी सिद्ध होता है कि स्वानुभूति की उपयोग के साथ विषम व्याप्ति है। ज्ञान लब्धि और उपयोग रूप रहता है परन्तु आत्म-शान्ति अर्थात् स्वानुभूति में लब्धि उपयोग का भेद नहीं पड़ता है वह तो

निरन्तर रहती है। जितनी कषाय का अभाव है उतनी शान्ति-स्वानुभूति खाते वक्त, लड़ाई में लडते वक्त एवं निद्रा में भी अपना कार्य करती है। इसका नाम स्वानुभूति कहो, अनाकुल दशा कहो, चारित्र गुण की शुद्धता कहो, कषाय का अभाव कहो, जो चाहे वह नाम रखो उसमें बाधा नहीं है, सब एक ही अर्थवाची हैं।

गोम्मटसार तथा चौवीसठाना में लिखा है कि अवधि दर्शन चतुर्थ गुणस्थान से होता है। तब क्या मिथ्यात्व में अवधि दर्शन होता ही नहीं है? दर्शन चेतना बिना ज्ञान चेतना होती ही नहीं यह सिद्धान्त है। अर्थात् सामान्य अवलोकन बिना विशेष अवलोकन होता ही नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान में विभंगावधिज्ञान होता है तब विभंगावधि दर्शन तो होता ही नहीं। तब विभंगावधिज्ञान होने में कारण कौन है। क्या चक्षु-अचक्षु दर्शन पूर्वक विभंगावधिज्ञान होता है? नहीं, विभंगावधिज्ञान के पूर्व अवधि दर्शन होना ही चाहिये? अवधि दर्शन बिना विभंगावधिज्ञान होता ही नहीं है। तब गोम्मटसार में अवधिदर्शन चौथे गुणस्थान से होता है ऐसा क्यों लिखा? दर्शन चेतना मिथ्या होता ही नहीं है, कारण कि सामान्य अवलोकन वचनातीत है। इसीलिये

उसमें संशयादि दोष होता ही नहीं। जब ज्ञान मिथ्या होता है इसीलिये मिथ्याज्ञान में सम्यक् अवधिदर्शन कहना उचित नहीं समझकर उसको चतुर्थ गुणस्थान से माना है। परन्तु यथार्थ में अवधिदर्शन मिथ्यात्व गुणस्थान में भी होता है। ऐसा श्रद्धान रखना चाहिये। क्योंकि दर्शन चेतना पूर्वक ही ज्ञान चेतना होती है यह तो सिद्धान्त है।

हरेक कर्म जो उदय में आता है वह नियम से फल देकर ही खिरता है। उदय में आया हुआ कर्म फल दिए बिना खिर पावे ऐसा सिद्धान्त नहीं है। तब हरेक कर्म क्या २ फल देता है इसका ठीक २ ज्ञान करना चाहिये। ज्ञानावरणीय कर्म भी समय २ में उदय में आता है, वह अपना फल देकर ही खिर जाता है। कर्म का फल नियम से आत्मा को बाधा देने वाला ही है।

शंका—हम अच्छी तरह से चक्षु द्वारा प्रतिमाजी को देख रहे हैं और उसे देखने में कुछ बाधा भी नहीं होती है और उसी समय में ज्ञानावरणादि कर्म का उदय है। तब उस उदय ने आत्मा को देखने में क्या बाधा डाली? क्योंकि कर्म का फल तो नियम से बाधा देता ही है?

समाधान—आत्मा अखण्ड द्रव्य है और उसको ज्ञानका क्षयोपशम भी सर्व प्रदेशों में समान है। अमुक्

प्रदेशों में अमुक जातिका ही क्षयोपशम है ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है। अर्थात् अमुक प्रदेशों से रूप का ही ज्ञान हो, अमुक प्रदेशों से रस का ही ज्ञान हो, अमुक प्रदेशों से गंधका ही ज्ञान हो ऐसा स्वभाव नहीं है। तो भी संपूर्ण प्रदेशों से रूप आदिका ज्ञान न होने का क्या कारण है? वर्तमान कर्म के उदय ने आपकी उस शक्ति को रोक रखा है कि यदि रूप का ज्ञान करना है तो चक्षु द्वारा ही करूं। यदि रसका ज्ञान करना है तो रसना इन्द्रिय द्वारा ही ज्ञान करूं। यह तो वर्तमान कर्मका उदय का फल है। यद्यपि क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्म-प्रदेशों में समान है। इसीका नाम तो क्षयोपशमिक ज्ञान है अर्थात् सापेक्ष ज्ञान है। पर द्रव्य की अपेक्षा रखकर ज्ञान होवे उसीका नाम सापेक्ष ज्ञान है और जो पर द्रव्य की अपेक्षा बिना ही आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों से ज्ञान हो वही निर्विकल्प अर्थात् क्षायक ज्ञान है। यह दोनों ही ज्ञान में विशेषता है। क्षयोपशम ज्ञान परकी सहायता बिना होता ही नहीं है इस कारणतो बारहवें गुण-स्थान तक अज्ञान ज्ञान अथवा पराधीन ज्ञान कहा गया है।

चतुर्थ अणुव्रत का नाम स्वदारा संतोष अणुव्रत कहा

जाता है जिसका अर्थ बहुत से जीव स्वदारा में संतोष या स्वदारा-भोगना यह अर्थ कर उसी को व्रत मानते हैं। परन्तु विचार भी नहीं करते हैं कि स्वदारा भोगने का भाव है वह व्रत कैसे हो सकता है? परन्तु इसका अर्थ यह है कि पर दारा भोगनेके भाव का जो अभाव हुवा है वह व्रत है और स्वदारा भोगने का भाव है वह तो अव्रत है। उसी प्रकार शुद्ध आहार करने के भाव को बहुत से जीव पुण्य भाव मानते हैं परन्तु शुद्ध आहार करने का भाव तो पाप भाव है परन्तु अशुद्ध आहार करने का भाव जो मिट गया हैं वही पुण्य भाव है। शुद्ध आहार तो स्वदारा भोगने रूप है और अशुद्ध आहार पर दारा भोगने रूप है। परन्तु अशुद्ध आहार करने का भाव मिट गया वही पुण्य भाव है।

तत्वार्थ सूत्र में नवम अध्याय में लिखा है कि "सगुप्ति-समितिधर्मानुप्रेक्षापरिपहजयचारित्रैः" ॥ २ ॥ इसका अर्थ करने में जीव महान गलती करता है।

कायको हिलाना नहीं, एक आसन में रखना, बोलना नहीं परन्तु मौन रखना और मन में पाप को चिन्तवन न करना इसीको गुप्ति भाव कर उसी को धर्म मानता है परन्तु यह संवर भाव नहीं है। यह तो पुण्य भाव है। उसको

व्यवहार से संवर कहा जाता है परन्तु यथार्थ में वह तो पुण्य भाव है। उसका यथार्थ में संवर तो तेरहवें गुणस्थान के अंत में ही होता है क्योंकि यह तीनों योग हैं और योगका संवर केवली भगवान को भी तेरहवें गुणस्थान के अंत में ही होता है।

बहुत से जीव समिति को संवर मानते हैं परन्तु यह संवर भाव नहीं है। समिति तो प्रवृत्ति रूप है और प्रवृत्ति संवर कैसे हो सकती है। यह तो कर्म चेतना है और कर्म चेतना तो बन्ध का ही कारण है। मेरे द्वारा जीवों का घात न होवे इस अभिप्राय को लेकर चार हाथ जमीन शोधकर चलना वह जीवों की रक्षा का भाव है और वह पुण्य भाव है संवर भाव नहीं है। एषणा समिति में तो ४६ दोष और ३२ अन्तराय टाल कर भोजन शुद्ध लेनेका भाव है वह तो पुण्य भाव भी नहीं है वह तो पाप भाव है और समितिको संवर मानना मिथ्यात्व भाव है।

मुनि के दश धर्म "उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्य-संयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः" उत्तम क्षमा आदिको जो धर्म कहा है वह तो व्यवहार धर्म है अर्थात् पुण्य भाव है। वह संवर भाव नहीं है क्योंकि इस धर्म का तो अभव्य द्रव्य लिंगी मुनि भी पालन करता

है। यथार्थ में धर्म तो वीतराग भाव का नाम है व्यवहार रूप पुण्य भाव रूप धर्म को संवर मानना मिथ्यात्व है। यह दशों प्रकार के मुनि धर्म पुण्य भाव हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में गाथा ४०८ में कहा भी है कि—

एदे दहप्पयारा पावकम्मस्स णासिया भणिया।
पुण्णस्स य संजणाया पर पुण्यत्थं ण कायव्वा॥

अर्थ—यह दश प्रकार के मुनि धर्म के जो भेद हैं वह पाप कर्म के नाश करने वाले तथा पुण्य कर्म को उत्पन्न करने वाले हैं परन्तु इनको मात्र पुण्य भाव के अर्थ अंगीकार नहीं करना।

बारह प्रकार का भावना का भाव-अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म का चिन्तवन करना संवर नहीं है। इसको तो व्यवहार से संवर कहा है। यथार्थ में यह तो पुण्य भाव हैं, यह तो कर्म चेतना के भाव हैं इसको संवर मानना मिथ्वात्व भाव है। संवर भावतो ज्ञान चेतना का नाम है। चिन्तवन करने का भाव तो विकल्प है वह विकल्प रूप भाव संवर कैसे हो सकता है? संवर तो निर्विकल्पक भावका अर्थात् वीतराग भाव का नाम है।

बाईस परिषह-क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक-नग्नता अरति, स्त्री चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन को सहन करने के भाव को संवर कहा है। परन्तु यह तो व्यवहार से कहा है। यथार्थ में परिषह सहन करने का भाव पुण्य भाव है। यह तो कर्म चेतना है और कर्म चेतना बन्धन भाव है और संवर भाव तो ज्ञान चेतना का नाम है। बाईस परिषह के भाव को संवर मानना मिथ्यात्व है।

तत्वार्थ सूत्र के नवें अध्याय के तीसरे सूत्र में लिखा है कि "तपसा निर्जरा च" अर्थात् तप से निर्जरा होती है। यथार्थ में विचारा जावे तो बारह प्रकार के तप-अनशन अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश यह बाह्य तप हैं और अभ्यंतर तप प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान हैं इन बारह प्रकार के तप से निर्जरा नहीं होती है अर्थात् यह भाव निर्जरा तत्व नहीं हैं परन्तु इनसे पुण्य का बन्ध पड़ता है अर्थात् वह पुण्य तत्व हैं। तप के भाव से पाप की निर्जरा होती है और पुण्य बन्ध पड़ते हैं।

शंका-तब तप से निर्जरा क्यों कही ?

समाधान—तप से निर्जरा जरूर होती है। परन्तु तप का लक्षण "इच्छा निरोध" कहा है। जहां इच्छा का अभाव होता है वहां निर्जरा होती है। परन्तु बारह प्रकार के तपमें इच्छा का अभाव नहीं होता है बल्कि इच्छा दब जाती है। जैसे आज उपवास का भाव रखा; परन्तु कल तो खाने का भाव है ? तब खाने के भाव का अभाव नहीं, हुआ परन्तु एक दिन के लिए खाने के भावको दबा दिया है।

शंका—इच्छा निरोध का अर्थ तो इच्छा रोकना है और उपवास मे एक दिन के लिये इच्छा रोकी ही है ? तब निर्जरा क्यों न होवे ?

समाधान—इसमें निरोधका अर्थ रोकना नहीं है, परन्तु अभाव समझना चाहिये। क्योंकि अभाव भाव निर्जरा है और रोकना यह भाव पुण्य भाव है। जैसे एक मनुष्य ने सब वनस्पतिका त्याग कर मात्र ५० वनस्पति खाने को रखी है। इधर जो वनस्पतिका जीवन भर त्याग किया है वह तो निर्जरा भाव है। निर्जरा में जीवन भर का त्याग होता है। उसी मनुष्य ने ५० वनस्पति में से ४० वनस्पति का अमुक मास के लिये त्याग किया और दश

वनस्पति खाता है। जो ४० वनस्पतिका अमुक् मास के लिये त्याग किया है वह पुण्य भाव है क्योंकि वहां अमुक् मास बाद उस वनस्पति को खाने का भाव है अतः भाव को इतना मास तक रोका है परन्तु इच्छा का अभाव नहीं हुवा है इसलिये रोकने के भाव से पुण्य बन्ध है और जो १० वनस्पति खाता है वह तो पाप भाव है। इसी प्रकार उपवास आदि में भाव रोका जाता है परन्तु भावका अभाव होता ही नहीं। इसलिये उपवासादि भाव पुण्य भाव हैं परन्तु निर्जरा के भाव नहीं हैं।

देखिये चतुर्थ गुणस्थानवर्त्ती जीव बहुत ही उपवास करता है और पंचम गुणस्थानवर्त्ती जीव एक दफा भोजन करता है, इन दोनों में निर्जरा एवं आत्मीक शान्ति किसको विशेष है ? चतुर्थ गुणस्थान से पंचम गुणस्थानवर्त्ती जीव में विशेष निर्जरा एवं शान्ति है, क्योंकि पंचम गुणस्थानवर्ती जीवको प्रत्याख्यान और संज्वलन कषाय का बन्ध पडता है जब चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवको तीन कषाय का बन्ध पडता है। इससे सिद्ध हुआ कि अनशनादि तप से निर्जरा नहीं होती है परन्तु मात्र पुण्य बन्ध पडता है। यही बात श्री कुन्द-कुन्द स्वामीने प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञानाधिकार की गाथा ६९ में कहा है कि—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उपवासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पो ॥

अर्थ—देव, गुरु और यति की पूजा में, दान में, सुशीलों में, तथा उपवासादि में जो आत्मा की प्रीति है वह शुभोपयोग रूप आत्मा के परिणाम हैं।

सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि और शूक्ष्मसांपराय को संयम कहा गया है वह यथार्थ में संयम भाव नहीं है। परन्तु संयम भाव में मल उत्पन्न करना है अर्थात् वह तो पुण्य भाव है। त्रिकाल में सामायिक करना यह तो कर्म चेतना का भाव है–पुण्य भाव है। अठाईस मूल गुणों को यथार्थ पालन करना अथवा अठाईस मूल गुणों के दोष न लग जावे ऐसा जो शुभोपयोग इसी का नाम छेदोपस्थापना संयम है, वह पुण्य भाव है। यह संयम तो अभवी द्रव्य लिगी भी पालन करता है। परिहार विशुद्धि संयम में भी प्राणियों की हिंसा का परिहार रूप शुभ विकल्प का नाम परिहार विशुद्धि संयम कहा जाता है। यह भी पुण्य भाव है। सयम में मल लगाने वाला है। शूक्ष्मसांपराय में शूक्ष्म लोभ का जो विकल्प रह जाता है उसीका नाम शूक्ष्म सांपराय संयम है यह भी पुण्य भाव है। यह संयम नहीं परन्तु संयम में दोप लगाने वाला है।

इसी को व्यवहार संयम कहा जाता है। यथार्थ में जो वीतराग भाव की प्राप्ति हुई है वही संयम है और उसके साथ में जो शुभ विकल्प है उसी को व्यवहार संयम कहा जाता है। यथार्थ में यह तो बन्ध के भाव हैं संयम भाव नहीं हैं। जैसे मैल संयुक्त शक्कर को शक्कर कहा जाता है परन्तु यथार्थ में मैल शक्कर नहीं है वह तो शक्कर का दोष हैं उसी प्रकार वीतराग भाव रूप शक्कर में यह आरोप संयम मैल रूप है। यह तो दोष है इसी का अभाव करने से ही यथाख्यात सयम की प्राप्ति होती है। इसके सद्भाव में यथाख्यात संयम की प्राप्ति होती नहीं है।

तत्वार्थ सूत्र में धर्म ध्यान के चार पाये दिखाये हैं। (१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय (३) विपाक विचय (४) संस्थान विचय। यह धर्मध्यान सम्यग्दृष्टि जीव को ही होता है ऐसा बहुत ग्रन्थों में लिखा है। चतुर्थ गुणस्थान में धर्म ध्यान का पहला पाया होता है। पंचम गुणस्थान में धर्म ध्यान का दूसरा पाया होता है, छठवें गुणस्थान में धर्म ध्यान का तीसरा पाया होता है। और सप्तम गुणस्थान में धर्म ध्यान का चौथा पाया होता है। इसी प्रकार अलग २ ग्रन्थों में लिखा है। परन्तु यह परमार्थ नहीं है। यह धर्मध्यान नहीं है। यह तो धर्म ध्यान के मल

है। अर्थात् धर्मध्यान में दोष है अर्थात् पुण्य भाव है। यह व्यवहार धर्मध्यान तो अभव्य मिथ्यादृष्टि को ही होता है। यथार्थ में धर्मध्यान तो वीतराग भाव का नाम है जो निश्चय धर्मध्यान है जो सम्यग्दृष्टि को ही होता है। अनन्तानुबन्धी कषाय का अभाव यह प्रथम पाया है, अप्रत्याख्यान कषायका अभाव यह दूसरा पाया है, प्रत्याख्यान कषाय का अभाव यह तीसरा पाया है और प्रमाद का अभाव वह चौथा पाया है। इसी प्रकार परमार्थ अर्थ समझना चाहिये।

वहुत से जीव ध्यान को ज्ञान गुण की पर्याय मानते हैं परन्तु उनकी यह मान्यता यथार्थ नहीं है। क्योंकि ध्यान तो तप है और तप रूप पर्याय चारित्र गुण की है परन्तु ज्ञान गुणकी नहीं है। ऐसी श्रद्धा करना चाहिये।

शुक्लध्यान के चार भेद वतलाए हैं। (१) पृथक्त्ववितर्क (२) एकत्ववितर्क (३) सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति (४) व्युपरत क्रिया निवृत्ति।

पृथक्त्ववितर्क यथार्थ में शुक्लध्यान नहीं है वह तो शुक्लध्यान का मल है, शुक्लध्यान में दोष है। विकल्पको शुक्लध्यान नहीं कहा जाता है वह तो पुण्य भाव है परन्तु यह पुण्य भाव में शुक्लध्यान का आरोप का व्यवहार

शुक्लध्यान कहा जाता है। यथार्थ में शुक्लध्यान की जो चारित्र गुणकी पर्याय है वह तो बारहवें गुणस्थान के पहले समय में शुद्ध हो जाती है वहां ही चारित्र की अर्थात् शुक्लध्यान की पूर्त्ति हो जाती हैं, परन्तु बाकी के तीन शुक्लध्यान तो पर गुणों की शुद्धता की अपेक्षा से कहे जाते हैं। दूसरे शुक्लध्यान में ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मों का नाश की अपेक्षा से कहा जाता है। तीसरा शुक्लध्यान योग के नाश के कारण से कहा जाता है तथा चौथा शुक्लध्यान कार्माण शरीर के नाश के कारण से कहा जाता है। यह तो चारित्र गुण में उपाचर कर कहा जाता है, जैसे चारित्र तो जो है सो ही है जिस में कुछ वृद्धि होती ही नहीं है। परन्तु केवल ज्ञानकी प्राप्ति की अपेक्षा से उसी चारित्र को अवगाढ चारित्र कहा जाता है, और योग के अभाव में परमावगाढ चारित्र कहा जाता है। यह तो सब कथन पर गुणों का आरोप कर कहा जाता है यथार्थ में तो मोहनीय कर्म के क्षयमें ही चारित्र गुणकी शुद्धता हो जाती है जिसको यथाख्यात चारित्र कहा जाता है बाकी के अवगाढ परमावगाढ आदि पर गुणों की शुद्धता की अपेक्षा से कहा जाता है।

तत्वार्थ सूत्र में चतुर्थाध्याय में लिखा है कि "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या" भवनत्रिक देवों में पीत तक चार लेश्या होती है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में पर्याप्त अवस्था में तो पीत ही लेश्या रहती है, परन्तु अपर्याप्त अवस्था में इन्हें कृष्ण नील और कापोत लेश्या रहती है। क्योंकि कर्म भूमियां मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यंच मरण कर भवनत्रिक में उत्पन्न होते हैं। तब उसी की पूर्व लेश्यायें अपर्याप्तक अवस्था तक साथ रहती हैं परन्तु पर्याप्त अवस्था में तो नियम से पीत लेश्या ही रहती है।

शंका—देवों में शुभ लेश्या है तो भी वह मरण कर निगोद एकेन्द्रिय पर्याय में जा सकते हैं और नारकियों में तीनों अशुभ लेश्या हैं तो भी मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय होते हैं इसका क्या कारण है?

समाधान—देवों में शुभ लेश्या होते हुए भी देवों में देवगति के भोग भोगने का भाव है, लालसा है जिस कारण से वह मरण कर एकेन्द्रियादि पर्याय में मरण कर जाता है, परन्तु नारकियों का नरक स्थान में भोग भोगने का भाव नहीं किन्तु नारक क्षेत्रकी अति पीडा के कारण अर्थात् क्षेत्र जन्य महान दुःख के कारण नरक क्षेत्र से

बचने के लिये तीव्र अशुभ लेश्या है, जिस कारण से वह मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय ही बनता है। जैसे मकान में आग लगने से मनुष्य प्रथम अपनी जान बचाने को चाहता है परन्तु भोगकी सामग्री बचाने को नहीं चाहता। इसी प्रकार नरक भूमि जन्य दुःख से बचने के लिये नारकी जीवों का अशुभ लेश्या रूप परिणाम होते हुए नरक में भोग भोगने का भाव नहीं होने से वह मरण कर नियम से संज्ञी पंचेन्द्रिय बनता है।

शंका—लेश्या किस को कहते है ?

समाधान—लेश्या में प्रधानपना प्रवृत्तिका है कषाय का प्रधान पना नहीं है।

अर्थात्—बुद्धिपूर्वक उदीरणा का नाम लेश्या है। कषाय में प्रधान पना अभिलाषा है, अर्थात् मोहनीय कर्म का उदय है और हिंसा में प्रधान पना प्रमादका है।

शास्त्रों में जीव का उर्ध्वगमन स्वभाव कहा है। यथार्थ में गमन करना आत्मा का स्वभाव भाव नहीं है परन्तु विकारी भाव है। जब तक आत्मा में कर्मों का सम्बन्ध है है तबतक आत्मा में गमन करने की शक्ति है परन्तु कर्म

के अभाव में आत्मा क्रियावान नहीं रहता है परन्तु निष्क्रिय रहता है जो आत्मा की स्वभाविक अवस्था है।

शंका—तब जीवका उर्ध्वगमन स्वभाव क्यों कहा ?

समाधान—गमन करना जीवों का स्वभाव नहीं है परन्तु विभाव भाव है। जिन जीवों को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप का ज्ञान नहीं है ऐसे वेदान्तमतावलम्बी ने प्रश्न किया कि जब आत्मा सर्व कर्मों से मुक्त होगया तब अधोलोक की ओर गमन न करके उर्ध्वलोक की ओर गमन क्यों किया ? ऐसे जीवों के समझाने के लिये उपचार से कह दिया कि आत्मा का स्वभाव उर्ध्वगमन है। ऐसा कहकर समझाने के लिये उपचार से उदाहरण के लिये तत्वार्थ सूत्र में दशवें अध्याय में सूत्र भी बनादिया कि "आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालांबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च"।

परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। यह तो समझाने के लिये उपचार मात्र से कहा गया है। जैसे जल पुद्गलकी पर्याय है तथा अग्नि भी पुद्गलकी पर्याय है। यह दोनों में क्रियावती शक्ति है और वह क्रियावती शक्ति दोनों में विकारी है तो भी समझाने के लिये उपचार से जल और

अग्नि में द्रव्य को उपचार कर कह दिया कि—

को शिखवत है नीरको नीचेको ढल जाय ।
अग्नि शिखा उंची चले, यहीं अनादि स्वभाव ॥

विचारिए दोनों में क्रियावती शक्ति विपरीत परिणमन कर रही है, तो भी यथार्थ में विचारा जावे तो दोनों में क्रियावती शक्ति विकारी परिणमन कर रही है, किमे स्वभाव शक्ति कहागे ? इसी प्रकार आत्मा का उर्ध्वगमन स्वभाव नहीं है, परन्तु उदाहरण के लिये उपचार से कहा है। गमन करना ही आत्मा का विकारी परिणमन है। तब प्रश्न यह रहता है कि मुक्त आत्मा ने उर्ध्वगमन कैसे किया ? वहां तो कर्मों का अभाव हो गया है ? तब विकारी परिणमन भी कह सकते नहीं है ? तब यथार्थ कहाँ है ?

समाधान—जिसको आप गमन देखते हो वह तो संसारकी व्यय पर्याय है, और उत्पाद पर्याय सिद्ध पर्याय है। जैसे एक पुद्गल परमाणु सप्तम नरक से ऋजुगति से तीव्र गति से गमन करे तो चौदह राजू एक समय में लोक के अग्रभाग में जाता है। वहाँ विचारिये कि उस परमाणु की व्यय पर्याय कहां तक मानी जावेगी ? और उत्पाद पर्याय कहां मानी जावेगी ? लोक के अग्र भाग

में उत्पन्न होना वही तो उत्पाद पर्याय है और बाकी की व्यय पर्याय है, जिसमें सप्तम नरक से प्रथम नरक तक का क्षेत्र, प्रथम नरक से प्रथम स्वर्ग का क्षेत्र, प्रथम स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग का क्षेत्र, सोलहवें स्वर्ग से सर्वार्थ सिद्धि तक का क्षेत्र, तथा सर्वार्थ सिद्धि से लोक के अग्र–भाग के क्षेत्र सभी व्यय पर्याय में ही हैं यह क्षेत्र का भेद पाडोगा तो एक समय नहीं रहेगा।

जैसे एक आत्मा ग्यारहवें गुणस्थान से गिर कर सीधा एक समय में मिथ्यात्व गुणस्थान में आता है, वहां ग्यारहवें गुणस्थानकी व्यय पर्याय कहां तक मानी जावेगी और उत्पाद पर्याय कहां तक मानी जावेगी।

इस पर विचार करने से आप से आप मालुम हो जावेगा कि चौदहवें गुणस्थान का त्याग से सिद्ध पद में न पहुँचे तबतक की व्यय पर्याय है और सिद्ध पद की प्राप्ति अर्थात् लोक के अग्रभाग में स्थिर होना उत्पाद पर्याय है। इससे सिद्ध हुआ कि उर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव भाव नहीं है परन्तु गमन करना आत्मा का विकारी भाव है।

आत्मा असख्यात प्रदेशी हैं। आत्मा का प्रदेश चलाचल है। नाभी के पास में जो अष्ट रुचक प्रदेश है

अर्थात् असंख्यात प्रदेश के मध्य में जो आठ प्रदेशी है जिसको रुचक प्रदेश कहा जाता है वह अचल है, अर्थात् घूमता नहीं है, यह कथन सुनकर अमुक जीवका ऐसा आशय है कि यह अष्ट प्रदेश शुद्ध है, और बाकी के प्रदेश अशुद्ध हैं, ऐसा कहना उसका गलत है, उसको आत्म ज्ञान नहीं है। क्योंकि आत्मा अखण्ड है उसका असंख्यात टुकडा नहीं है। आत्माको जो असंख्यात प्रदेशी कहा जाता है वह तो पर की अपेक्षा से है। आत्माको एक शुद्ध पुद्गल परमाणु से यदि मापा जावे तो आत्मा असंख्यात पुद्गल परमाणु जितना लम्बा है। माप की अपेक्षासे आत्मा असंख्यात प्रदेशी है, तो भी आत्मा तो अखण्ड द्रव्य है अखण्ड आत्मा में अमुक् प्रदेश शुद्ध और अमुक् प्रदेश अशुद्ध कहना उचित नहीं है, परन्तु गलत बात है। आत्मा का टुकडा होता तब तो यह कहना उचित होसकता था, परन्तु वस्तुका स्वरूप ऐसा नहीं है। आत्मा के योग नाम के गुणकी अष्ट रुचक प्रदेश की अपेक्षा शुद्ध और बाकी के प्रदेशोंकी अशुद्ध अवस्था एक साथ मानना यह उचित नहीं है। एक समय में एक ही अवस्था रहेगी। एक समय में दो अवस्था माननें वालेको द्रव्य का ज्ञान नहीं है वह अप्रतिबुद्ध अज्ञानी है। तेरहवें गुणस्थान के अंत तक

योग नामके गुण की कम्पन रूप विकारी अवस्था है और चौदहवें गुणस्थान के पहले समय में योग नामके गुण की शुद्ध अवस्था अकंप रूप होती है। यही परमार्थ सत्य है।

पंचाध्याय उत्तरार्द्ध की गाथा २७ में लिखा है कि—

नासंभवमिदं यस्मादर्थाः परिणामिनोऽनिशं।
तत्र केचित् कदाचिद्वा प्रदेशचलनात्मका॥

अर्थ—क्रिया तथा भाव का जो कथन किया है वह असिद्ध नहीं है, क्योंकि सब पदार्थ प्रति समय परिणमन करते रहते हैं उसी परिणमन में कभी २ जीव व पुद्गल द्रव्य हलन चलन करते हैं।

इसके अभिप्राय में बहुत महाशय ऐसा अभिप्राय रखते हैं कि संसार अवस्था में आत्मा क्रियावान और निष्क्रियत्व होता है एवं अपने बनाए हुए शास्त्रों में भी लिख देता है वह उसकी महान गम्भीर भूल है। वह भूल होने का कारण उसको पदार्थ का ज्ञान नहीं है, वह अज्ञानी है। निष्क्रिय हुए बाद क्रियावान होने का क्या कारण है? संसार अवस्था में आत्मा नियम से क्रियावान है अर्थात् जबतक कर्म का संयोग है तब तक आत्मा नियम

से क्रियावान है और कर्म का अत्यंत अभाव होने से वह निष्क्रियत्व ही होता है। निष्क्रियत्व होने के बाद कर्म के अभाव के कारण वह क्रियावान कभी भी नहीं होता है।

अमुक् जीवकी ऐसी मान्यता है कि—आत्मा में नियम से क्रमबद्ध ही पर्याय होती है, अर्थात् जीव में लोभ की पर्याय हुए बाद ही मान की ही होनेवाली ही है, मान के बाद रति की ही होनेवाली है। ऐसी मान्यता वाले जीवोंको एकान्त मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। उन को पदार्थ का ज्ञान नहीं है। अबुद्धि पूर्वक अवस्था तो समय समय में होती ही है और वह पर्याय की साथमें कभी कभी अबुद्धि पूर्वक पर्याय होती है वह तो असंख्यात समय में होती ही है। बुद्धि पूर्वक पर्याय होवे या न होवे तो भी अबुद्धि पर्याय तो होती ही रहती है। अबुद्धि पूर्वक पर्याय जो होती है वह क्रमबद्ध होती है और बुद्धि पूर्वक जो पर्याय होती है वह अक्रम होती है। अर्थात् उदयकी अपेक्षा पर्याय क्रमबद्ध है और उदीरणा की अपेक्षा से पर्याय अक्रम है। कथंचित् क्रम बद्ध पर्याय है कथंचित् अक्रम पर्याय होती है। यही मानना स्याद्वाद है, अनेकान्त है। और मात्र क्रमबद्ध ही मानना एकान्त है। वह जीव मिथ्यादृष्टि है।

शंका—आत्मा में क्रमबद्ध ही पर्याय नहीं होती हैं

यह न्याय से सिद्ध हो सकती है ?

समाधान—जरूर देखिये ! आत्मा में दो प्रकार का भाव होता है (१) अबुद्धि पूर्वक (२) बुद्धि पूर्वक । अबुद्धि पूर्वक भाव तो समय २ में होता ही है और उस भाव के अनुकूल उस जीवको समय समय में बन्ध पडता ही है। अबुद्धि पूर्वक राग के वक्त बुद्धि पूर्वक राग हो या न हो इसका कोई नियम नहीं है, परन्तु बुद्धि पूर्वक राग के वक्त अबुद्धि पूर्वक राग तो अपना कार्य समय समय में कर रहा है । बुद्धि पूर्वक राग एक समय में होता ही नहीं है परन्तु नियम से असंख्यात समय में ही होता है। बुद्धि पूर्वक राग से समय समय में बन्ध नहीं पडता है परन्तु जो अबुद्धि पूवक राग से समय समय में बन्ध पडता है वही बन्ध में अपकर्षण, उत्कषण तथा संक्रमणादिक होता है । और ऐसा बुद्धि पूर्वक राग न होवे तो यह होता ही नहीं है । जिससे भी सिद्ध होता है कि अबुद्धि पूवक राग का नाम क्रमबद्ध पर्याय है और बुद्धि पूर्वक राग का नाम अक्रम पर्याय है । जैसेः—

आयुका निषेक समय समय में खिर रहा है वह खिरना तो क्रम बद्ध है परन्तु अपघात करके आयु के निषेकों को एक साथ में खिरा देना वही अक्रम पर्याय है । अर्थात् बुद्धि पूर्वक जो जो उदीरणा होती है वह अक्रम

पर्याय है और अबुद्धि पूर्वक उदय क्रम वद्ध पर्याय है।

कर्म के साथ में आत्मा का संयोग सन्बन्ध है। संयोग सम्बन्ध का अर्थ एक क्षेत्रावगाही रहना ऐसा प्रायः करके बहुत जीव करते हैं, परन्तु ऐसा अर्थ करने में गलती रहजाती है। एक क्षेत्रावगाही तो सब द्रव्य रहते है। जिस आकाश के क्षेत्र में जीव द्रव्य रहता है उसी आकाश के क्षेत्र में और जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य, धम द्रव्य, अधर्म द्रव्य एवं काल द्रव्य भी रहते हैं तो भी आत्मा का उसके साथ में सयोग सम्बन्ध नहीं है। एक क्षेत्र में रहते हुए उसके साथ विशिष्टतर परस्पर अवगाहना सम्बन्ध है उसीका नाम संयोग सम्बन्ध है। यही बात प्रवचनसार ग्रन्थ के ज्ञेयाधिकार में गाथा १७३ में कही है कि—

फासेहिं पुग्गलाणं वंधो, जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पुग्गलजीवप्पो भणिदो॥

अर्थ—स्पर्श गुणके कारण से पुद्गलमें बन्ध होता है, रागादिक के कारण से जीव में बन्ध होता है और अन्योन्य अवगाह वही पुद्गल जीवात्माका उभय बन्ध कहा जाता है।

तत्वार्थ सूत्रके आठवें अध्यायके तीसरे सूत्रमें "प्रकृति

स्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः" कहा गया है वह तो पौद्गलिक द्रव्य कर्म की अपेक्षासे कहा गया है। आत्मामें इस प्रकारका बन्ध नहीं होता है।

समयसार ग्रन्थ के निर्जरा अधिकार में गाथा १९३ में लिखा है कि—

उवभोजमिंदियेहि दव्वाणामचेदणाणमिदराणं।
जे कुणदि सम्मदिट्ठी ते सव्वं णिज्जरणिमित्त ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियकरि चेतन अचेतन जे द्रव्य तिनका उपभोग करे है तिनकूं भोगवे हैं सो सब ही निर्जरा के निमित्त हैं।

सम्यग्दृष्टि जो जो भोग करते हैं वह सब निर्जरा ही होती है ऐसा अर्थ बहुत से जीव करते हैं। परन्तु यथार्थ में यह गाथा भाव निर्जराकी अपेक्षासे नहीं है वह तो द्रव्य निर्जराकी अपेक्षासे कही गई है। दूसरी गाथा नं० १९४ में कहा है कि—

दव्वे उवभुजंते णियमा जायदि सुहं च दुखं वा।
तं सुहदुक्खमुदिराणं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥

अर्थ—पर द्रव्य को भोगने से सुख अथवा दुःख नियम से होता है। उदय में आए हुए उस सुख दुःख

को अनुभव करता है, भोगता है, आस्वादन करता है, फिर वह द्रव्य कर्म आस्वाद देकर झड जाता है। निर्जरा होने के बाद फिर वह द्रव्य कर्म नहीं आता अर्थात द्रव्य कर्म की निर्जरा हो गई।

यहां विचारना चाहिये कि जब आत्मा में सुख दुख का अनुभव हुआ तब निर्जरा कहां हुई, यह तो कर्म फल चेतना रूप आत्माका भाव है, जब निर्जराका भाव तो ज्ञान चेतना रूप है।

सम्यगदृष्टि का भोग तो नियम से पापका ही भाव है। यदि भोग करते निर्जरा हो जावे तो भोगनेका भाव को कर्म फल चेतना क्यों कही ? भोगनेका भाव तो नियम से पापका ही भाव है। परन्तु बहुत जगह पर सम्यग्दर्शन की महिमा दिखाने के लिये अपेक्षा से कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टिका भोगनेका भाव होते हुए भी उसको मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का बन्ध नहीं पड़ता। इसी अपेक्षा से निर्जराका कारण कहा जाता है। क्योंकि द्रव्य लिंगी मुनि पीछी से जीवकी दया पाल रहा है तो भी उसको मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का बन्ध समय समय में पड़ रहा है। इसी अपेक्षा से सम्यगदर्शन की महिमा दिखानेके लिये मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी की अपेक्षा से सम्यगदृष्टिका

भोग निर्जराका हेतु कहा है। परन्तु जब चारित्रकी महिमा दिखानी है तब आचार्य श्री ने सम्यग्दृष्टि के उपवासको अव्रत भावकी अपेक्षासे हस्ति स्नान जैसा भी कहा है। जैसा कि मूलाचार ग्रन्थ के दसवें समयसाराधिकार में गाथा ५२ में कहा है कि—

सम्मादिट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होदि।

होदि हु हत्थि ण्हाणं चुदुच्छिदकम्मं तं तस्य ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि का तप उपकारक नहीं है तो सम्यग्दृष्टि का तप महोपकारक है, ऐसा भी नहीं समझना चाहिये। सम्यग्दृष्टिका तप भी हस्ति स्नान जैसा है एवं मिस्त्री का हथियार में जो छेद पाडने वाली सायडी है उसकी रस्सी के समान है अर्थात् हाथी स्नान करके और विशेष धूलि डालने से वह धूलि के कारण विशेष चिपक जाती है एवं सायडी की रस्सीका एक हिस्सा जब छोटा होता है तब दूसरा हिस्सा लंबा हो जाता है इस न्यायसे अव्रत सम्यग्दृष्टि के तपसे निर्जरा जितनी नहीं होती है इससे विशेष बन्ध अव्रत भावसे होता है।

यह तो कथन करने की शैली है। जहां मात्र सम्यग्-दर्शन की महिमा दिखाना है वहां तो सम्यग्दृष्टिके

भोगको भी निर्जरा का हेतु कह दिया और जहां चारित्र की महिमा दिखानी है वहाँ सम्यग्दृष्टि के तप को भी हाथी स्नान जैसा कह दिया। यह तो कथन करने की शैलि है। तो भी कौन अपेक्षा से कथन किया है इसका यथार्थ ज्ञान करना चाहिये।

वीतराग सर्वज्ञ देवकी वाणी बहुत जीव अनक्षरी मानते हैं परन्तु इसको मार्गणा स्थानका ज्ञान नहीं होने से वह ऐसा कह देना है एवं अपने बनाए शास्त्र में भी लिख देता है। वह उसीके अज्ञान की महिमा है। सर्वज्ञ तो वीतराग है तो भी आगम में उसीका दो वचन भाग क्यों माना है। और किस कारण से माना है। उस पर जीव विचार करता नहीं है (१) सत्य वचन (२) अनुभय वचन। सर्वज्ञ की वाणी कर्म जनित खिरती है अथात् इच्छा पूर्वक वह वाणी नहीं खिरती है। पूर्व भवोंमें तीर्थंकरके जीवोंने ऐसी भावना भायी थी कि संसारके सभी जीवोंका कल्याण कैसे हो? इसी भावना में सहज तीर्थंकर गोत्रका बन्ध पड गया था जिसके उदयमें ही सर्वज्ञ की वाणी सहज खिर रही है। अनादि कालसे जीव अज्ञान के कारण पौद्गलिक द्रव्य कर्मों से बन्धा है और कर्मों के आधीन उसकी अवस्था हो रही है, ऐसा जीवों को मोक्ष मार्ग दिखाने के

लिये जीवका अपना गुण पर्याय की साथ तादात्म्य सम्बन्ध किस प्रकार है उसीका ज्ञान कराने के लिये सत्य वाणी खिरती है। और जीवकी पौद्गलिक द्रव्य कर्मोंके संयोग से कैसी अवस्था हो रही है इसीका ज्ञान कराने के लिये अनुभव वाणी खिरती है। यह दोनों वाणी एक ही साथमें ही अक्षर रूप अनेकान्त तथा स्याद्वाद मुद्रा सहित खिर रही हैं जो वाणी बन्ध के कारण नहीं है।

केवली की वाणी अबुद्धि पूर्वक सहज ही खिरती है, ऐसे ही छद्मस्थ जीवों की वाणी सहज खिर रही है ऐसा कहने वाले जीवों को मद चढा हुवा है अज्ञान में पागल की तरह हो रहे हैं। वाणी पुद्गलकी पर्याय है जीव उस वाणी का उपादान कर्ता नहीं है। इस अपेक्षा से यदि कहा जावे तो एकेन्द्रिय जीव को भी वचनयोग मानने में क्या बाधा आती है। इस अभिप्राय से तो दो इन्द्रिय जीव से पंचेन्द्रिय जीव तक की सबकी वाणी सहज खिरती है ऐसा मानना चाहिये। वाणी तो पुद्गल जड की अवस्था है उसको तो ज्ञान नहीं है और आत्मा बोलता ही नहीं है। तब सत्य और हितमित वचन बोलना, सत्य महाव्रत अंगीकार करना, भाषा समिति का पालन करना, वचन गुप्ति धारण करना आदि जो उपदेश हैं वह किस के लिये

दिया गया है क्योंकि वाणी तो मरल खिरती है और आत्मा तो बोलता ही नहीं है। जड तो अन्धा है उसको उपदेश देने से क्या लाभ ? छद्मस्थ जीव ऐसा कहे कि जो वाणी आनेवाली है वही आवेगी वह तो मात्र दंभ है, छल है। इच्छा पूर्वक राग से ही बोलना और कहना कि जो वाणी आने वाली है वही आवेगी वह तो मायाचारी है। बोलने मे गलती हो जाती है तो माफी कौन मांगता है। आत्मा या जड ? जड में तो ज्ञान नहीं है और गलती का ज्ञान तो आत्मा को ही होता है। आत्मा तो बोलता ही नहीं है तब माफी मांगने का कारण क्या है। छद्मस्थ जीवों की वाणी नियम से स्वाधीन अवस्था में बुद्धि पूर्वक ही खिरती है और इच्छा बिना वाणी खिरती होगी तो वह नियम से आत्माकी पराधीन सन्निपातादिक अवस्था में ही खिरती होगी। वाणी के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। आत्मा निमित्त है और वाणी नैमित्तिक पर्याय है। वाणी का आत्मा निमित्त कर्त्ता है और वाणी का उपादान कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है। जिस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्मा में राग हो रहा है तो भी वह राग का अपने को कर्त्ता न मानकर पुद्गल द्रव्य को कर्मों का कर्त्ता मानता है। इसी प्रकार जीव भी वाणी का निमित्त

कर्त्ता है। जिस कारण से कहा जाता है कि पुरुष प्रमाण सो वचन प्रमाण। यदि वाणी छद्मस्थ जीवों के सहज खिरती है तो छद्मस्थ जीवों को बन्ध क्यों पडता है। छद्मस्थ की वाणी नियम से बन्ध के ही कारण है और केवली की बन्ध के कारण नहीं है, यही बात श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने भी नियमसार ग्रन्थ के शुद्धोपयोग अधिकार में गाथा १७३, १७४ में कहा है कि—

परिणामपुव्ववयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं तह्मा णाणिस्स ण हि बंधो॥
ईहापुव्वं वयणं जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहा रहियं वयणं तह्मा णाणिस्स ण हि बंधो॥

अर्थ—मनके परिणमन पूर्वक जो वचन जीवके निकलते हैं वे बन्धके कारण होते हैं, परन्तु जो वचन मन के परिणति के बिना निकलते हैं वे बन्ध के कारण नहीं है। इसलिये केवली परमात्माको बन्ध नहीं है। जो वचन इच्छा पूर्वक जीवके होवेंगे वे वचन बन्धके कारण होवेंगे, परन्तु जो वचन वांछा (इच्छा) रहित हैं सो बन्ध के कारण नहीं है इसलिये केवली परमात्माको बन्ध नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि छद्मस्थ के वाणी सहज नहीं

खिरती है परन्तु राग सहित प्रायोगिक निकलती है।

शास्त्रमें ऐसा देखने में आता है कि बाहर सामग्री लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम में मिलती है परन्तु परमार्थ से विचार करना यह कहना उसका गलत है क्योंकि कर्म प्रकृतियोंका उसीको यथार्थ ज्ञान नहीं है। यथार्थ में विचारा जावे तो अन्तराय कम घाति कर्म है उसके सद्भावमें आत्माके वीर्य गुणकी घात होती है, और अन्तराय कमके क्षयोपशम में वीर्य शक्ति की प्राप्ति होती है यह अन्तराय कर्म का काय है। जैसे ज्ञानावरण कर्म ज्ञान गुण की घात करता है और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशममें ज्ञानकी शक्ति प्राप्त होती है। अन्तराय कर्मके क्षयोपशम से बाह्य सामग्री मिलती है यह कहना गलत है क्योंकि अन्तराय कर्म तो पाप प्रकृति है और पाप प्रकृति से बाह्य सामग्रीका मिलना-मानना भूल है। बाह्य सामग्री का संयोग वियोग वेदनीय कर्मके उदय में ही होता है। कर्मके क्षयोपशम में सामग्री मिलती नहीं है परन्तु उदय में ही मिलती है। समयसार ग्रन्थ के बन्ध अधिकार में गाथा २५४, २५५, २५६, में कहा है कि—

दिगम्बर जैन मुनि जंगलों में ही बसते हैं। ग्रामोंमें शहरों में नगरियों में रहना मुनि राजोंका धर्म नहीं है।

क्योंकि शहरोंमें तो गृहस्थ परिग्रहधारी ही रहते हैं, और जिसने परिग्रह का त्याग किया है ऐसे जीवों को परिग्रह-धारी की भाँति करना उचित नहीं है। क्योंकि दोनों की दशा परस्पर विरोधी है। गृहस्थों का धर्म भक्ति करना है और भक्ति राग है। जब मुनि महाराज राग से उदासीन हैं तो वे राग में कैसे फसेंगे ? इस कारण से मुनि महाराज नियम से जंगलों में ही रहते हैं। दिगम्बर जैन मुनि जंगलों में या पहाडों पर ही रहते हैं जिस कारण से जैन लोगों के तीर्थ क्षेत्र विशेषकर पहाड तथा जंगलों में ही हैं।

शंका—जंगलों में ही रहना चाहिये यह मुनि का कौनसा मूलगुण है ?

समाधान—जंगलों में ही रहना यह मुनि महाराजों का मूल गुण नहीं है परन्तु मूल गुण का बाप है। प्रथम भावना होती है कि प्रथम मूल गुण ? भावना बिना मूल गुण काहेका ? जहां भावना का नाश हुवा वहां मूल गुण का तो सहज ही नाश हुवा। अचौर्य महाव्रत की भावना में जीव किस प्रकार की भावना भाता है—

शुण्णायारनिवासो विमोचितावास जे परोपरोधंच।
असेस सुद्दि सउत साहम्मी सविसंवादा॥

अर्थ—पर्वत की गुफा, वृक्ष के कोटर में निवास करना शून्यागारावास है। जिस आवासका दूसरे ने त्याग कर दिया हो, जो मुक्तद्वारा हो उसमें निवास करना विमोचितावास है। जिस ध्यान में निवास किया हो, ध्यान लगाया हो, तत्त्वोपदेश दिया हो वहां दूसरे साधु को आने से नहीं रोकना परोपरोधाकरण है। भिक्षा के नियमों का उचित्त ध्यान रखकर आहार शुद्ध लेना और साधर्मी से विसंवाद नहीं करना यह पांच भावना तृतीय महाव्रत की है।

जहां जगलों में ही गिरिगुफा में रहने की भावना वाला जीव है वह ग्राम नगरियों में कैसे रहेगा ? विचार करना चाहिये। भावना का नाश कर रहे तो भावना जहां नहीं है वहां कैसे रहेगा ? वहां तो निरर्गल प्रवृति ही होगी। जहां भावना रूप माता का मरण हो जावे तो पंच महा व्रत रूप पुत्र कैसे जिन्दा रह सकता है ?

दीक्षा के योग्य कौनसा स्थान है और जहां मुनि महाराज तिष्ठते हैं तिसके स्वरूप का जरा ज्ञान तो करिए ? बोध पाहुड में प्रवज्या का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए आचार्य गाथा नं० ४२-४३-४४ में कहते हैं कि—

सुरगहरे तरुहिट्ठे उज्जाणे तह मसाण वासेवा।
गिरिगुह गिरि सिहरे वा भीमवणे अहव वसिते वा॥

सवसासत्त तित्थं वचचइदालतयं च वुत्तेहिं।
जिणभवण अह वेज्झं जिणमग्गे जिणवरा विंति
पंचमहव्वयजुता पंचिंदियसंजया णिरावक्खा।
सज्झायझाणजुत्ता मुणिवर वसहा णिइच्छंति ॥

अर्थ—सूनाघर, वृक्षका मूल कोटर, उद्यान वन, मसाण भूमि, गिरिकी गुफा, गिरिका शिखर, भयानक बन, अथवा वसतिका, इनविषै दीक्षा सहित मुनि तिष्ठै हैं। ये दीक्षा योग्य स्थान हैं।

बहुरि स्ववशासक्त कहिये स्वाधीन मुनिनिकरि आसक्त जे क्षेत्र तिनिमें मुनि वसै, बहुरि जहांते मुक्ति पधारे ऐसे जो तीर्थ स्थान, चैत्यालय, बहुरि जिनभुवन कहिये अकृत्रिम चैत्यालय मंदिर ऐसे आयतनादिक तिनके समान ही तिनिका व्यवहार, तांहि जिन मार्ग विषै जिनवर देव वंद्य कहिये दीक्षा सहित मुनिनिकै ध्यावने योग्य चिंतवन करने योग्य कहे है।

बहुरि जे मुनि वृषभ कहिये मुनिनि में प्रधान हैं ते कहे ते शून्य गृहादिक तिनिकू निश्चयकरि इष्ट करे हैं तिनिमें सूनाघर आदिक में वसै हैं। तथातीर्थ आदिक का ध्यान चिंतवन करे हैं और अन्यकू तहां दीक्षा दे हैं कैसा है वह मुनिवर—पांच महाव्रतनिकरि संयुक्त है। बहुरि कैसे

हैं–पांच इन्द्रियनिका है भले प्रकार जीतना जिनिकै। बहुरि कैसा मुनिवर है–निरपक्ष है, काहू प्रकार की वांच्छाकरि मुनि न भये हैं। बहुरि कैसे है मुनि–स्वाध्याय अरु ध्यान करि युक्त हैं। कई तो शास्त्र पढे हैं, पढावै हैं, कई धर्म शुक्र ध्यान करे हैं। कैसा है मुनिवर—

उवसग्गपरिसहसहा णिज्जणादेसेहि णिच्च अत्थेइ।
सिलकट्ठे भूमितले सव्वे आरुहइ सव्वत्थ ॥

अर्थ–उपसर्ग कहिये देव मनुष्य तिर्यंच अचेतनकृत उपद्रव और परिषह कहिये दैव कर्म भोगतै आये जे वाईस परिषह तिनकूं सम भावनितै सहना जामें, ऐसी प्रव्रज्या सहित मुनि हैं ते जहां अन्यजन नाहीं ऐसा निर्जन बनादिक प्रदेश तहां सदा तिष्ठै हैं तहां भी शिलातल काष्ठ भूमितल विषै इनि सब प्रदेशनिकू आरोहण करि बैठे सोवै। सर्वत्र कहने से वनमें ही रहे और किंचित्काल नगर में रहे तो ऐसे ही ठिकाने में रहे। कैसा है मुनिवरः—

पूजादिसु णिरवेक्खा संसारसरीरभोगणिव्विण्णो।
अब्भंतर तवकुसलो उवसमसीलो महासंतो ॥
जो णिवसेदि मसाणे वणगहणे णिज्जणे महाभीमे
अण्णत्थ वि एयंतं तस्स वि एदं तवं होदि ॥

अर्थ—जो महामुनि पूजादिमें निरपेक्ष हैं अर्थात् अपनी पूजा प्रतिष्ठा को चाहते नहीं हैं, संसार देह और भोगसे विरक्त हैं उदासीन हैं। स्वाध्यायध्यान आदि अंतरंग तपमें प्रवीण हैं अर्थात् ध्यान अध्ययनमें जिनका उपयोग निरंतर लगाही रहता है, उपशमशील हैं अर्थात् मंद कषाय रूप शान्त परिणाम हैं जिनका, महा पराक्रमी अर्थात् अपने क्षमादि परिणाम युक्त हैं ऐसे महा मुनि कहां वसते है ? मसान भूमि में, गहन वनमें, जहां परिग्रहधारी का आवागमन न हो ऐसे निर्जन स्थानमें महाभयानक वन में तथा अन्यभी ऐसे ऐकान्त स्थानमें, रहने वाले मुनि महाराज निश्चय से तपकर सकते हैं।

दिगम्बर मुनि महाराजका स्वरूप तो ऐसा ही है परन्तु दुःख की बात है कि आज तो मुनि महाराज नगरी शहरों के बीचमें जहां हजारों परिग्रहधारियों का आवागमन है, जहां फैशनकी लहरों में रंगे हुए पांच इन्द्रियोंके गुलाम बने हुए जीवोंका ही निवास है, ऐसे स्थान में रहने लगे हैं। और चौबीस घंटा लौकिक संगति में ही मस्त हैं अपने ध्यान अध्यन में तो दिल लगता ही नहीं है। ऐसे मुनि महाराजकी क्या दशा है, वह तो उसका ही आत्मा जानता होगा।

प्रवचनसार ग्रन्थमें चारित्राधिकार गाथा २६८, २६९, २७०, में कहा है कि —

णिच्छिदसुत्तत्थपदो-समिद कसायो तवोधिगो चावि
लोगिगजण संसग्गं ण जहदि जदि संजदो ण हवदि
णिग्गथं पव्वइदो वट्टदि जदि ऐहिगेहि कम्मेहिं ।
सो लोगिगोदि भविदो संजम तप संयजुत्तावि ॥
तम्हा च्मं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं॥

अर्थ—सूत्र के पदों का और अर्थका जिसने निश्चय किया है, कषाय को जिसने उपशम किया है, जो अधिक तप वाला है ऐसा जीव भी यदि लौकिक जनों के संसर्ग को छोडता नहीं है तो वह संयत मुनि नहीं है।

जो जीव निग्रन्थ दीक्षा लेनेसे संयम व तप संयुक्त होय तो भी यदि वह ऐहिक कार्यों सहित वर्तता होय तो उसको लौकिक कहा है।

आग के सम्बन्ध से जल की तरह मुनि भी लौकिक की कुसंगति से असंयमी हो जाता है। इससे ऐसी कुसंगति को त्याग कर उत्तम मुनि जो दुःख से मुक्त होना चाहता

है तो गुणों मे अपने समान अथवा अपने से गुणों में अधिक श्रमण की इन दोनों की संगति में निवास करना चाहिये।

परन्तु वर्तमान में तो इससे विलकुल विपरीत बात देखने में आरही है। विशेषकर ब्रह्मचारी का ही सघ देखने में आरहा है। ब्रह्मचारी तो मुनि के अन्ध आदमी के लकडी के समान है। जिस कारण से यथार्थ उपदेश का तो लोप ही होगया और प्रधान उपदेश यज्ञोपवीत पहराने का और शूद्र के हाथ का भरा हुवा जल का ही त्याग किया जाता है। इस बात की इतनी प्रबलता है कि वह तो नवधा भक्ति के एवज में दसवीं भक्ति बोली जाती है कि मैंने शूद्र जल का त्याग किया है और यज्ञोपवीत धारण की है।

यज्ञोपवीत किस को पहरने का अधिकार है वह तो भूल हो गया है। बाजार की चाट चाटनेवाला, जंगेडी भंगेडी नशाबाज आदि आजतो यज्ञापवीत पहरने लगा है। मोची पहने, धोबी पहने, दरजी पहने, नाई पहने, कहां तक कहा जावे मेथर भी पहरने लगा है। यज्ञोपवीत की महिमा कहां रही ? यज्ञोपवीत उसेही पहरने का अधिकार है जिसका खान पान शुद्ध हो, आगम के अनुकूल ही जो

अभक्ष का त्यागी हो, जो रात्रि में चार प्रकार के आहार का त्याग करने वाला हो, जो सप्त व्यसन का संपूर्ण रीति से त्याग करने वाला हो उसे ही यज्ञोपवीत पहनने का अधिकार है। उस पर तो लक्ष है नहीं और जबर दस्ती से पहरने का आदेश दिया जाता है।

शूद्र के हाथ के जलका तो त्याग कराया जाता है साथ साथ यह आज्ञा भी दी जाती है कि टोंटी (नल) का जल पी लेना, बाजार की चाट खाना, रात्रि में कलाकन्द आदि खाना, बजार का अमर्यादित दूध दही जो मात्र त्रसके पिण्ड रूप है उसको खा लेने में हर्ज नहीं है। यह कहां का त्याग है ? त्याग ऐसा कराइए कि जिससे धर्म की उन्नति के साथ धर्म का बिगडा हुआ मार्ग सुधरे ? परन्तु कहना किसको ? सब त्यागी गण जो अहमिन्द्र ही बने हैं। कोई की सर्वोपरि सत्ता आज्ञा तो रही ही नहीं। यही जैन धर्म का अधोगतिका महान कारण है। त्याग कराइये परन्तु क्रमबद्ध त्याग कराइये। अक्रम त्याग कैसे ठहर सकता है ? काल पाकर नियम से त्याग के प्रति अनादर भाव ही आयेगा और त्याग छोड देने का ही प्रसंग आता है। भगवान महावीर की जबरदस्ती से त्याग कराने की आज्ञा नहीं है। प्रथम ज्ञान कराइये बाद में

त्याग तो सहज ज्ञान आने से आजावेगा। यही धर्म की बढवारी का मात्र रस्ता है।

वर्तमान काल में विशेष कर गृहस्थ अमर्यादित आहार लेते हैं। दिगम्बर जैन मुनियों को किस प्रकार से और किस विधि से आहार दान देना चाहिये इस का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। इसका ज्ञान कराने की महिमा न रही न उसको खुद को ज्ञान है और शूद्र के जल त्याग की ओर लच जाता है। यह तो धर्म डुबाने का तरीका है। अज्ञान के कारण आहार दान देने में जो लाभ होना चाहिये, इससे वह वंचित रह जाता है। मनः शुद्धि, वचन-शुद्धि और कायशुद्धि कब और किस अवस्था में और किसे बोलना चाहिये इसका भी दातार को ज्ञान नहीं है। जिस दातारने मुनि महाराज के लिये चौका लगाया है, उस दातार को यह तीन प्रकार की शुद्धि बोलने में महान दोष लगता है। मुनिका विकल्प कर आहार बनवाना इसमें उद्गम नाम का दोष दातार को लगता है। और मुनि महाराज जानते ही हैं कि यह चौका सिर्फ मेरे ही लिये लगाया गया है इसी कारण से मुनि महाराज को उद्दिष्टादि दोष लगता है। जो दातार नियमसे रोजाना शुद्ध आहार लेता है वही दातार यथार्थ में मुनि महाराज

को दान देने के लिये अधिकारी है। क्योंकि उस दातार ने जो आहार बनवाया है वह मुनि महाराज के लिये नहीं बनवाया है परन्तु अपने निज के लिये बनवाया है। जो आहार बनाने में मन से भी विकल्प नहीं किया है कि यह चौका मुनि महाराज के लिये लगाया है, वचन से भी ऐसा नहीं बोला है कि यह आहार मुनि महाराज के लिये ही बनाया है और काय से भी ऐसी चेष्टा नहीं हुई है कि मुनि महाराज के लिये आहार बना रहा हूं। ऐसा दातार ही मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, और काय शुद्धि बोल सकता है। परन्तु दातार तो खासतौर से मुनि महाराजों के लिए ही आहार बनाता है और गुरु के सामने झूंठ मन शुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि बोले, इसमें कितना दोष लगता है, सो विचारना चाहिये ? जो जीव गुरु के सामने झूंठ बोलता है वह कितना अज्ञानी है। ऐसा अज्ञान छुडा-ने का उपदेश का तो लोप होगया और मात्र उपदेश रह गया कि शूद्र जल के त्याग बोलो तब मैं आहार लूंगा, नहीं तो आहार नहीं लूंगा। शूद्र के हाथ का जल पीने वाले के हाथ से आहार नहीं लेना वह तो अपना हठ है कदाग्रह है। जहां हठ है कदाग्रह है वहां तो धर्म की गन्ध भी नहीं है। अव्रत अवस्था का जिसको ज्ञान नहीं है, उस

को मुनि अवस्था कैसी होती है उसका ज्ञान कैसे हो सकता है। यह तो नाम मात्र का मुनि है जिसको जैन शास्त्रों में द्रव्य लिंगी भी नहीं कहा है, यह तो मात्र मुनि वेष है। शूद्र जलके त्याग की जरूरत नहीं है परन्तु मुनि महाराज जब से अपने ग्राम नगर में पधारे तब से अपनी शक्ति के अनुकूल ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि अमुक् दिन, अमुक् पक्ष, अमुक् मास तक मैं शुद्ध आहार लूंगा। यही उत्तम रीति है जिससे शूद्र जल का त्याग तो सहज हो जाता है। इस प्रकार का उपदेश देने से दातार मुनि महाराज के सामने झूंठ बोलने के महान पाप से बच जाता है, और दातार मुनि महाराज को आहार दान देने में यथार्थ लाभ उठा सकता है तथा मुनि महाराज भी स्वयं उद्दिष्टादि दोषों से बचजाते हैं एवं दातार भी उद्गमादि दोषों से बच जाता है।

शंका—चार प्रकार के दान में से कौनसा दान उत्तम है?

समाधान—दान तो चारों ही प्रकार के उत्तम हैं। फिर भी विचारने से मालूम होता है कि आहार दान देने में पात्र जीव एक दिन के दुःख से बच सकता है दूसरे दिन वही दुःख सताता है। औषधदान देने में पात्र

जीव अमुक दिन मास या वर्ष के दुःख से बच सकता है। अभयदान देने से पात्र जीव आयुपर्यंत दुःख से बच सकता है। परन्तु शास्त्र दान ऐसा दान है कि जिसके निमित्त से जीव अनंत संसार काट कर मुक्त बन सकता है। इसीसे उत्तमोत्तम दान शास्त्रदान है।

जीवने अपने जीवन में अनेक दफे आहार दान दिया होगा परन्तु कभी जीव को अभय दान एवं शास्त्र दान देने का भाव क्यों नहीं होता है ? इस पर विचार करने से मालुम होता है कि इस प्रकार के उपदेशका अभाव है। दातार ने अपने जीवन में कभी भी ऐसा प्रश्न पात्र जीव से नहीं किया होगा कि आपको कोई शास्त्र की जरूरत है, मेरा विचार शास्त्र दान देने का है। परन्तु पूछे कहां से ? इसकी महिमा कभी जानी ही नहीं है। जिस खुद को ज्ञान की महिमा ज्ञात नहीं है वह दूसरे जीवों को ज्ञान बढाने की बात कैसे पूछेगा ? जैसा आहार तैसी डकार। दातार को स्वयं ज्ञान अर्जन करना चाहिये और ज्ञान दान अपनी शक्ति अनुसार करना चाहिये। ज्ञान दान जैसा दूसरा दान नहीं है। तीर्थंकर देव के समवशरण में भी तो ज्ञान को गंगा बहती है और किस बात की महिमा है।

बहुत जीव ऐसे देखने में आते हैं कि जब पात्र जीवों

को आहार लेते वक्त अंतराय आ जाता है तब दातार ऐसा कहते हैं कि हमारे दान में अंतराय कर्म का उदय आया जिससे पात्र को अंतराय आगया। यह क्यों कहते हैं ? वे जीव अज्ञानी हैं उन्हें शास्त्र का ज्ञान नहीं है। अंतराय कर्म का उदय आपको आवे और उसका फल पात्र जीवों को भोगना पडे यह मान्यता ही अज्ञान की है। खुद पात्र जीव को अंतराय कर्म का उदय है तब ही अंतराय आया है। पात्र जीव को ही पापका उदय है नहीं तो अंतराय क्यों आता ? दातार के तो पुण्य का उदय नहीं होता तो पात्र जीव अपने चौके में कैसे आता।

पुण्य का उदय है इतना ही नहीं, परन्तु दातार के पुण्य बन्ध भी पड रहा है, क्योंकि वह तो आहार दान दे रहा है, परन्तु पात्र जीव को अन्तराय आता देख अपने को दुःख होता है वह भी पुण्य का ही बन्ध है। पात्र का जो आहार लेने का भाव था वह तो पाप का ही भाव था, परन्तु अन्तराय आने से किसी प्रकार के ऊहापोह के बिना शान्ति से अन्तराय का पालन करने का भाव पुण्य का भाव है, क्योंकि आहार लेने रूप भाव तो पाप का भाव था परन्तु आहार का त्याग रूप जो भाव हुवा वह पुण्य भाव है।

दातार के घर में मध्यम और जघन्य पात्र आहार लेनेको आया है तो भी दातार की ऐसी भावना रहती है कि यदि मेरा आहार मुनि महाराज को दिया जावे तो मुझे विशेष पुण्य बन्ध होगा। यही भावना लेकर दातार अपने घर पर आए हुए मध्यमादि पात्र को बैठाकर तुरन्त अपने चौके की सामग्री लेकर मुनि महाराज को आहार दान देने को दौडते हैं। यह उचित मार्ग नहीं है। इस अभिप्राय में मिथ्यात्व का सेवन आता है, क्योंकि आप का ऐसा अभिप्राय है कि मेरा आहार मुनि महाराज के पेट में जावे तो मुझको विशेष पुण्य बन्ध होगा, परन्तु पुण्य बन्ध का कारण आहार नहीं है, अपनी भक्ति रूप भाव है। वह पुण्य बन्ध का कारण है। इसका ज्ञान नहीं होने से मिथ्यात्व का ही सेवन हो रहा है। जिसके चौके में मुनि महाराज नहीं पधारे हैं और वह दातार भावना भा रहा है कि मुनि महाराज कब पधारें? तो क्या उसको पुण्य बन्ध नहीं होगा? अवश्य होगा। क्योंकि पुण्य बन्ध का कारण आहार नहीं है परन्तु भाव है। पात्र जीवों को आहार देते वक्त जैसा भाव होगा वैसा ही बन्ध पडेगा। बन्ध का कारण मन्द कषाय रूप आत्मा का परिणाम है, परन्तु आहार की सामग्री नहीं है। अपने चौके में जो

मध्यम पात्र आया है उसका अनादर नहीं कर भक्ति से उसको आहार दान देना वही उत्तम रीति है ।

शंका—तत्वार्थ सूत्र में सातवें अध्याय के सूत्र ३९ में लिखा है कि "विधिद्रव्यदातृपात्रविशेषात्तद्विशेषः" ॥ अर्थात् उत्तम पात्र को दान देने से उत्कृष्ट पुण्य बन्ध पडेगा, मध्यम पात्र को दान देने से मध्यम पुण्य बन्ध पडेगा, और जघन्य पात्र को दान देने से जघन्य पुण्य बन्ध पडेगा—यह क्या कहा ?

समाधान—सूत्र का परमार्थ अर्थ आपके समझने में नहीं आया । इस सूत्र के अर्थ में उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य पात्र का भेद लेने का नहीं है परन्तु पात्र कुपात्रादिक के भेद से पुण्य में भेद पडता है । यह सूत्र का परमार्थ अर्थ है ।

शंका—पात्र कुपात्रादिक से कैसे पुण्य बन्ध में भेद पडता है और पात्र कुपात्रादिक का क्या स्वरूप है ?

समाधान—जिसको देव, गुरु और व्यवहार धर्म की श्रद्धा है वह सभी पात्र जीव हैं । जो क्षुधा तृषा जरा आदि अठारह दोषों रहित सर्वज्ञ वीतराग हितोपदेशी को

ही देव मानते हैं" जो नग्न दिगम्बर मुनि जो अठाईस मूलगुणों का पालन करने वाला बाईस परिषह को जीतने वाला और मनुष्य देव तिर्यंच द्वारा आए हुए उपसर्ग को शांत भाव से जीतता है उसको गुरू मानता है, और जो धर्म को दयामयी ही मानता है ऐसी जिन जीवों की श्रद्धा है वे सभी पात्र जीव हैं। ऐसे पात्र जीवों को दान देने से उनको फल में सुभोग भूमि तथा सुदेवों के सुख के साथ परम्परा मोक्ष मिलती है यह पुण्य का फल है।

जिस जीवको देव की श्रद्धा में विपरीतता है अर्थात् देव सर्वज्ञ वीतराग को मानता है परन्तु वह देवको अठारह दोषों सहित मानता है। अर्थात् देव को क्षुधा तृषा रोग आदि होता है उसे देव के स्वरूप में विपरीतता है। जो गुरू निर्ग्रन्थ को मानता है परन्तु गुरु वस्त्र पात्रादिका परिग्रह रखता है अर्थात् परिग्रहधारी को गुरु मानता है। वही गुरू के स्वरूप में विपरीतता है। जो दयामयी धर्म मानता है अर्थात् मांसादि खाने में पाप मानता है हिंसा चोरी झूंठ मैथुन सेवन और परिग्रह में पाप मानता है परन्तु ब्रह्मचर्य का पालन रात्रि भोजन न करना उपवासादि करने में धर्म मानता है। ऐसी जिस जीव की श्रद्धा है उसको कुपात्र मानते हैं। ऐसे कुपात्रों में पात्र

शुद्धि कर जो आहार दान देते हैं ऐसे जीवों को उसके फल में सुभोग भूमि तथा सुदेव का भोग मिलता है, परन्तु परम्परा मोक्ष नहीं मिलती है। यह पुण्य के फल में विपरीतता है।

जिन जीवों को देवकी श्रद्धा में विपरीतता है अर्थात् देव शस्त्रादि आयुध रखता है, देव स्त्री का भोग करता है उसे देव के स्वरूप में विपरीतता है। जो गुरु को ऐसा मानता है कि गुरु मृगचर्म रखता है, गुरु स्त्री आदि परिग्रह रखता है, गुरु संतान उत्पत्ति करता है जो पंच ध्वनि तपता है यह मान्यता गुरु के स्वरूप में विपरीतता है। तथा जो धर्म के स्वरूप में भी विपरीतता मानता है कि देवों को बलिदान देने स धर्म होता है, यज्ञ में नर पशु आदिका बलि देने मे धर्म है, गंगास्नान करने में धर्म है, पति के वियोग में सती होना धर्म मानता है, पहाड से कूद कर मरने में धर्म मानता है—यह मान्यता धर्म के स्वरूप में विपरीतता है। ऐसी मान्यता वाले जीवों को अपात्र कहा जाता है। ऐसे अपात्र जीवों में पात्र जीवों की कल्पना कर दान देने से उसके फल में कुभोग भूमि तथा कुदेव की ऋद्धि मिलती है और सुभोग भूमि सुदेव तथा परंपरा मोक्ष का अभाव है। यह पुण्य के फलमें विपरीतता है।

इसी प्रकार पात्र कुपात्र और अपात्र के स्वरूप तथा पुण्य के फल में विपरीतता है। कुपात्र और अपात्र जीवों को पात्र मानकर दान देने में मिथ्यात्व का सेवन होता है, परन्तु कुपात्र और अपात्र जीवों को करुणाभाव से दान देने का निषेध नहीं है। करुणा भाव तो प्राणी मात्र पर रखना चाहिये। कुपात्र को कुपात्र मान कर दान करुणा बुद्धि से देने का फल पुण्य बन्ध है।

शंका—आत्मा तो खाता ही नहीं है, ऐसा आगम में लिखा है तब यह दान आदि क्यों करना चाहिये ?

समाधान—आत्मा खाता नहीं है वह किस अपेक्षा से लिखा है इसका आपको परमार्थ ज्ञान नहीं है। इस कारण ऐसे जीवों को निश्चयाभासी कहा गया है। आत्मा तादात्म्य सम्बन्ध से खाता नहीं है ऐसा आगम का कथन है। परन्तु संयोग सम्बन्ध से अर्थात् व्यवहार से आत्मा खाता ही है। यदि आत्मा खाता ही नहीं है तो मैं आहार करूँ मैं आहार दान लेऊँ ऐसा विकल्प भी आत्मा में उठना नहीं चाहिये। जैसे बंध्या के पुत्र नहीं होता है तो मैं बन्ध्या-पुत्र को मारूँ ऐसा विकल्प नहीं उठता है, परन्तु वीरजननी के पुत्र होता है इसी कारण वीर जननी के पुत्र

को मारने का विकल्प उठता है। इसी प्रकार आत्मा व्यवहार से खाता है, बोलता है इसीलिये तो शुद्ध आहार खाने का आदेश दिया जाता है, मांस-मदिरा आदि का त्याग कराया जाता है। इससे सिद्ध हुवा कि निश्चय से आत्मा खाता नहीं है, परन्तु व्यवहार से खाता है। इसी श्रद्धान ज्ञान का नाम सम्यग्ज्ञान है।

कर्म की दश अवस्था में निकांचित और निधत्त अवस्था भी शास्त्र में लिखी है जिसमें भी जीव समझने में बहुत ही गलती करता है। निकांचित व निधत्त बन्ध किसको कहते हैं उसका भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। यथार्थ में निकांचित तथा निधत्तका घातिया कर्मों में भेद नहीं है, परन्तु अघातिया कर्मों के भेद हैं। जिसकाल में आयुका बन्ध पडता है उस समय में जो नाम कर्म में गति आदि-का बन्ध पडता है तथा गौत्र कर्म में जो बन्ध उसी समय पडता है वही निकांचित तथा निधत्त बन्ध है। क्योंकि जो गति और गौत्र क बन्ध पडेगा उसी गति और गौत्र में जीव को जानना ही होगा। वह बन्ध बदल नहीं सकता है। आत्मा की शक्ति नहीं है कि वह उसको बदल सके। उसी का नाम निकांचित व निधत्त है।

मिथ्यात्व भाव असंख्यात लोक प्रमाण हैं, इन भावों

को पिछाने बिना आत्मा सम्यग्ज्ञानी बन नहीं सकता है। इसलिये मिथ्यात्व भावों को पिछाननेकी शक्ति प्राप्त करना चाहिये। जैसे एक ग्राम में दो ब्रह्मचारीजी रहते हैं, जिनको उस ग्राम के मनुष्य सम्यग्दृष्टि मानते हैं एवं उनकी बहुत भक्ति करते हैं। एक दिन उस ग्राम में एक विशेष ज्ञानी मुनि महाराज पधारे। ठीक इस अवसर पर एक मुमुक्षु महिला रजस्वला हो गई। दूसरे दिन वह रजस्वला बाईजी ब्रह्मचारी महाराज के पास में गई और प्रार्थना की कि हे महाराज! कल मैं रजस्वला हो गई हूँ। मुनि महाराज दो दिन में विहार कर ज । मुनि महाराज के उपदेश से मैं बंचित रह जाती हूं। सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के काल में ही मैं रजस्वला होगई एवं कल रथयात्रा का दिन भी है। अब मुझको रक्ताश्रव मालूम नहीं होता है। घर पर रहने से सारा दिन प्रमाद में ही जाता है। रक्ताश्रव होना आत्मा का धर्म हैं ही नहीं, वह पुद्गल का ही धर्म है। अतः यदि आप आज्ञा दो तो मैं कल स्नानकर रथयात्रा में सम्मिलित होऊं और मुनि महाराज का उपदेशामृत का पान कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के साथ आत्म-कल्याण करूँ। ऐसे शुभ अवसर बार २ मिलते नहीं हैं। इस प्रार्थना को सुनकर ब्रह्मचारीजी

महाराज ने कहा कि बाईजी ! आपका कहना बिलकुल ठीक है, घर पर रहने से दिन प्रमाद में ही जाता है, एवं रक्ताश्रव आत्मा का धर्म नहीं है वह तो नियम से पुद्गल का ही धर्म है। पुद्गल के धर्म का आत्मा में अत्यंत अभाव है। इसीलिए आप आनंद से स्नान कर रथयात्रा में एवं मुनि महाराज के सदुपदेश में जाकर अपना कल्याण करें। ऐसा सु अवसर हर समय मिलता नहीं है। आपको कोई पूछे तो हमारा नाम ले देना कि ब्रह्मचारीजी महाराज ने आज्ञा दी है। इस आज्ञा के मिलने से बाईजी बहुत प्रसन्न हुई और ब्रह्मचारीजी को कोटिशः धन्यवाद दे अपने घर गई फिर क्या था ? दूसरे दिन स्नानकर उसने रथयात्रा में भाग लिया और पुण्योपार्जन किया और मुनि महाराज का सदुपदेश सुन कर बहुत ही आनंद माना।

अब सोचिए कि ऐसा आदेश देने वाले ब्रह्मचारीजी सम्यग्दृष्टि हैं या मिथ्यादृष्टि ?

प्रथम तो उसने आगम की आज्ञा न मानी। आगम से विपरीत आज्ञा दी। जिस कारण वह मिथ्यादृष्टि है। दूसरी बात – मुनि महाराज का उपदेश सुनने से ही मेरा कल्याण होगा ऐसा मानना मिथ्यात्व है। मेरा कल्याण मुझसे ही होगा, पर जीव मेरा कल्याण कर नहीं सकता

है। ऐसी जिस जीव की धारणा नहीं है वह परावलम्बी मिथ्यादृष्टि है। घर में रहने से प्रमाद होता है और मुनि-वाणी सुनने से ही कल्याण होगा-यह अभिप्राय मिथ्यात्व का ही है। घर में प्रमाद कौन करता है? प्रमाद करने वाला अपना ही आत्मा है, घर बिचारा क्या करेगा? मुनि की वाणी सुनकर धारणा तो मेरा ही आत्मा करेगा? या मुनि करा देंगे? ऐसा जिसका ज्ञान नहीं है उस जीव की दृष्टि निरंतर पर-द्रव्य पर ही रहती है अर्थात् पर से अपना कल्याण होना मानता है। वह मिथ्यादृष्टि ही है। इससे भी सिद्ध हुआ कि दोनों ब्रह्मचारी महाराज मिथ्या-दृष्टि ही हैं।

विनय तप भी है और विनय मिथ्यात्व भी है। पद के अनुकूल विनय करना तप है। परन्तु पद से विपरीत विनय करना विनय मिथ्यात्व है। किस पद में किस प्रकार का विनय करना चाहिए इसका ज्ञान अवश्य करना चाहिये। इस ज्ञान बिना जीव पद से विपरीत भक्ति या विनय करता है वह सब विनय मिथ्यात्व है। किस गुण में किस प्रकार की भक्ति होती है उसका भी ज्ञान चाहिये। इस ज्ञान के बिना गुण में विनय न होकर जीव मात्र राग में ही भक्ति या विनय करता है। वह भी विनय मिथ्यात्व है। अव्रती

जीवों की उनके पद के अनुकूल विनय करना चाहिये परन्तु अव्रती विनय गुरु जितना करें तो वह विनय मिथ्यात्व है। जैसे अव्रती को सद्गुरु देव कहना वह विनय मिथ्यात्व है। पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों की छटवें गुण स्थानवर्ती मुनि महाराज जैसी भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है।

शंका—भक्ति करना भक्त के अधीन है। भक्त की जैसी इच्छा हो वैसी भक्ति करे, उसमें मिथ्यात्व कैसे आजाता है?

समाधान—भक्ति का लक्ष्य गुण में अनुराग है। गुण तो आपके ज्ञान में आया नहीं और आपने भक्ति करी। यह तो मात्र राग में राग की भक्ति है और उस भक्ति का नाम मिथ्यात्व है। अव्रती की आपने भक्ति कैसे करी? आप भी तो अव्रती हो। आपने अव्रति की भक्ति कैसे करी? जिसकी आपने भक्ति करी उसमें जितना गुण है इतना तो आपमें भी गुण है? आपका और अव्रती सम्यग्दृष्टि का समान गुणस्थान है। आपने क्या सोचकर भक्ति करी? श्रावक के दो भेद हैं। १—व्रती २—अव्रती। आपने व्रती श्रावक की मुनि महाराज जैसी कैसे भक्ति करी? जहां गुणस्थान का ज्ञान नहीं है वहां मिथ्यात्व ही है। इससे सिद्ध हुआ कि गुणस्थान के अनुकूल भक्ति

करना वह विनय तप है परन्तु भक्ति करना वह भक्त के अधीन है यह कहना विनय मिथ्यात्व है।

छद्मस्थ जीव अल्प ज्ञानी हैं और अल्पज्ञानी को भूल हो जाना संभव है। ऐसे अल्पज्ञानी ने एक बात का प्रतिपादन कर दिया बाद में उसको ज्ञान में आया कि यह जो हमने प्रतिपादन किया था वह गलत था। ऐसा आत्मा स्वीकार करता है, परन्तु अपने मान कषाय के कारण वह गलती स्वीकार नहीं करता है वह तो मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसा जीव अपनी बात रखने के कारण आगम का अथ का अनर्थ करता है वह तो महान् मिथ्यादृष्टि है। तीव्र मिथ्यात्व बिना ऐसा अभिप्राय नहीं होता है। सत्य विरोध करने का जिस जीव का भाव है उसको और मेरी बात रह जावे ऐसे अभिप्राय वाले जीव को इतना ही कह सकते हैं कि इसकी त्रस पर्याय की पुष्टि हो रही है अन्यथा इस प्रकार का भाव कैसे हो सकता है।

इससे सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व के भाव का ज्ञान करना ही मोक्षमार्गी जीवों को बहुत जरूरी है। यह ज्ञान न होने के कारण जीव मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है।

यह सब बातें लक्ष में रखकर यह निर्णय हो सकता है कि जब तक अनुयोग का यथार्थ ज्ञान न हो अर्थात् कौन २ अनुयोग किस २ अपेक्षा से कथन करता है इसका ज्ञान न होने से जीव शास्त्र स्वाध्याय करते हुए अज्ञानी ही रह जाते हैं। इसलिये अनुयोग का ठीक २ ज्ञान करना बड़ा जरूरी है, अन्यथा अथ का अनर्थ हो जाता है।

जिस प्रकार मोक्ष—मार्ग में अनुयोग का ज्ञान करना कार्यकारी है उसी प्रकार नय निक्षेप का ज्ञान करना कार्यकारी है। नय का ज्ञान नहीं होने के कारण स्वाध्याय करते हुए भी मिथ्यादृष्टि ही रह जाता है। नय दो प्रकार का है। १—निश्चय नय, २—व्यवहार नय। निश्चय नय भी दो प्रकार का है गुण गुणी का भेद पाए बिना एवं गुण पर्याय का भेद पाये बिना द्रव्य का प्रतिपादन करना एवं द्रव्य को देखना यह निश्चय नय है। जैसे—आत्मा को ज्ञायक स्वभावी ज्ञानघन चैतन्य पिण्ड कहना अथवा देखना वह निश्चय नय है। दूसरा निश्चय नय इस को कहते हैं कि आत्मा का गुण तथा आत्मा की पर्याय आत्मा की कहना उसका नाम भी निश्चय नय है। जैसे—दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि आदि आत्मा के गुण हैं, मति श्रुत एवं केवलज्ञान पर्याय आत्मा की हैं, क्षमा

संतोषादि पर्याय आत्मा की हैं एवं क्रोध, मान, माया, लोभ अवस्था आत्मा की हैं यह भी निश्चय नय है।

व्यवहार नय भी दो प्रकार का है। (१) तादात्म्य व्यवहार (२) संयोग व्यवहार।

अभेद वस्तु में भेद मानकर कथन करना या देखना वह व्यवहार है। क्योंकि यथार्थ में वस्तु-पदार्थ अभेद है तो भी कल्पना द्वारा उसमें भेद पाड़ना वह व्यवहार है। इस व्यवहार का नाम तादात्म्य व्यवहार है। जैसे आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चारित्र-वीर्य आदि गुण कहना यह व्यवहार से कहा जा सकता है। यथार्थ में वस्तु तो अभेद है।

तादात्म्य व्यवहार भी दो प्रकार का है। (१) सद्भूत व्यवहार (२) असद्भूत व्यवहार।

आत्मा में दर्शन ज्ञान चारित्र हैं या आत्मा में केवल ज्ञान केवल दर्शन अनंत सुख अनंतवीर्य क्षायक सम्यक्त्व वीतरागता आदि शुद्ध गुण पर्याय कहना वह सद्भूत व्यवहार से कहा जाता है।

आत्मा में मति श्रुत अवधि और मनपर्यय ज्ञान होता है। आत्मा में क्रोध मान, माया, लोभ आदि पर्याएँ होती हैं, यह असद्भूत व्यवहार से कह सकते हैं।

संयोगी व्यवहार भी दो प्रकार का है। (१) असद्-भूत अनउपचरित व्यवहार (२) असद्भूत उपचरित व्यवहार।

आत्मा मनुष्य देव तिर्यंच नारकी शरीर में दश प्राणों से जीता है, आत्मा का औदारिक वैक्रियक शरीर होता है, यह असद्भूत अनउपचरित व्यवहार से कहा जाता है।

यह मेरी पत्नी है, यह मेरी लक्ष्मी है, मेरा घर है, यह मेरी मित्र है, केवली भगवन् लोकालोक को देखते हैं यह सब असद्भूत उपचरित कथन से कहा जाता है।

व्यवहार नयको जो अभूतार्थ असत्यार्थ कहा जाता है वह निश्चय नय की अपेक्षा से ही कहा जाता है। परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से सब प्रकार का व्यवहार सत्यार्थ है। इस प्रकार व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय नय भी असत्यार्थ है, अभूतार्थ है।

निश्चय नय आत्माको शरीर राग द्वेष से भिन्न कहती है इसका एकान्त किया जावे तो शरीर राग द्वेष मोह आदि पुद्गल का ही ठहरेगा। तब पुद्गल के घात से हिंसा भी नहीं हो सकती है और राग द्वेष मोह पुद्गलमयी ठहरनेसे उससे बन्ध भी नहीं होगा। इसी तरह मात्र परमार्थ नय निश्चय नय मानने से संसार मोक्ष दोनों का

अभाव हो जावेगा। ऐसा अनेकान्त स्वरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है, इसलिये व्यवहार अपेक्षा सत्य है भूतार्थ है।

पुण्य पाप भाव को व्यवहार कहा जाता है और वीतराग भाव को निश्चय कहा जाता है। यह पुण्य पाप रूप व्यवहार संसार का एव दुःख का ही कारण है। इस कारण यह व्यवहार छोडने लायक ही है। ऐसा पुण्य पाप भाव का नाम व्यवहार है ऐसा ज्ञान न होने के कारण अज्ञानी कहता है कि महाराज सभी व्यवहार छोडने का उपदेश देते हैं। परन्तु अज्ञानी अप्रतिबुद्ध को मालुम नहीं है कि व्यवहार किसका नाम है। पुण्य पाप रूप भाव व्यवहार छोडे बिना मोक्ष मिलही नहीं सकता है और न शान्ति भी मिल सकती है। इसलिये जो जीव शान्ति चाहता है उसे व्यवहार छोडना ही पडेगा। यह परमार्थ सत्य है।

निक्षेप भी नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव के भेद से चार प्रकार का है। जिसमें गुण तो हो नहीं और व्यवहार के लिए उसकी संज्ञा कहना नाम निक्षेप है। अन्य वस्तु में अन्य की प्रतिमा रूप स्थापना करना कि यह योंही है यह स्थापना निक्षेप है। जिस पदार्थ में स्थापना होती है वह यथार्थ में नहीं देखी जाती है परन्तु भाव देखा जाता है। क्योंकि जिसमें स्थापना की जाती है वह

नियम से अतदाकार ही होती है, परन्तु भाव में जो स्थापना की जाती है वह तदाकार है। वही स्थापना यथार्थ में पूज्य है और उसी भाव रूप तदाकार स्थापना का आरोप अन्य पदार्थों में किया जाता हैं। जैसे शतरंज के मोहरों में राजा प्रधान आदि की स्थापना की जाती है। परन्तु वह मोहरे राजा प्रधान नहीं हैं, परन्तु भाव में तो यथार्थ राजा प्रधान ही हैं। जैसे पीले चावल में पुष्प की स्थापना की जाती है। यथार्थ में पीले चावल पुष्प नहीं हैं, परन्तु भाव में पुष्प ही हैं। जैसे धातु पाषाण में भगवान की स्थापना की जाती है परन्तु वह धातु पाषाण की मूर्ति तदाकार नहीं है, क्योंकि भगवान के शरीर की लम्बाई चौडाई, शरीर में १००८ उत्तम चिन्ह हैं, वे धातु पाषाण की मूर्त्ति में नहीं हैं जिससे वह तो अतदाकार ही है। परन्तु भाव में तदाकार ही है। स्थापना बदल सकती है। स्थापना का आधार भाव है, जैसा २ भाव बदलता है वैसी २ स्थापना बदलती है। जैसे एक स्त्री में प्रथम पत्नी की स्थापना की थी तब वह पत्नी रूप देखने में आती थी। जब उसी स्त्री में बहिन की स्थापना की तब वही स्त्री बहिन रूप देखने में आती है। जब शास्त्र में जिन माता की स्थापना की तब उस शास्त्र को ढोक देते हैं, पूज्य

मानते हैं। जब उसी शास्त्र में पोथी की स्थापना करते हैं तब इसी शास्त्र को पैर नीचे दबाकर जिल्द सिलाई करते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि स्थापना भाव के अनुकूल बदल जाती है। स्थापना में भाव प्रधान है परन्तु वस्तु गौण है। स्थापना निक्षेप का ज्ञान न होने के कारण एक बाप के दो बेटों में तेरापंथी और बीसपंथी का भेद पड गया। जहां पंथ हैं वहां नियम से कषाय भाव हैं और धर्म में पंथ नहीं है वही धर्म सुख का कारण है। स्थापनादि निक्षेप किस नय का विषय है यह ज्ञान न होने के कारण सब अनर्थ की जड़ खडी हो जाती है।

धवल ग्रन्थ में कहा भी है कि—

नामं ठवणा दवियं ति एस दव्व दिठयस्स निखेवो।
भावो दुपज्जवट्ठिय परुवणा एस परमट्ठो॥ ६५॥

अर्थ—नाम—स्थापना और द्रव्य निक्षेप यह तीन द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं किन्तु भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नय के विषय हैं यह परम सत्य है।

स्थापना निक्षेप द्रव्यार्थिक नय का विषय है अर्थात् स्थापना निक्षेप में पर्याय गौण है अर्थात् पर्याय नहीं देखी जाती है। परन्तु जीव को ज्ञान नहीं होने से वह भाव के

अनुकूल जिसमें स्थापना की है उसी की पर्याय भाव के अनुकूल देखना चाहता है। परन्तु वस्तु का स्वरूप ऐसा नहीं है। स्थापना निक्षेप में मात्र भाव देखा जाता है परन्तु जिससे स्थापना की है उसकी पर्याय देखी नहीं जाती है। भाव के अनुकूल यदि पर्याय देखना है तो भाव निक्षेप से समवशरण में जाकर पूजा कीजिये, जैसे—आपके भाव में तीर्थंकर देव हैं वैसे ही ठीक सामने वे स्वयं विराजमान हैं। परन्तु स्थापना निक्षेप में मात्र अपना भाव का प्रधानपना है, न कि जिसमें स्थापना की है उसका प्रधान पना। जैसा २ भाव बदलता जायगा वैसी २ स्थापना भी बदलती जाती है। जैसे एक आकार की मूर्ति में पाच कल्याण कैसे किए जाते हैं। जैसा जैसा भाव बदलता है वैसे २ में मूर्ति में कल्याण की स्थापना होती जाती है। परंतु जीव को निक्षेप का ज्ञान न होने से भाव के अनुकूल सामने पदार्थ नहीं देखने से क्रोधादि कर भाई २ झगड़ा खड़ा कर लेता है। जिसकी बदौलत एक दिगम्बर सनातन धम का टुकड़ा होकर बीस पंथ—तेरह पंथ हो रहा है। शान्त चित्त से बैठ कर यदि एक दफे स्थापना निक्षेप का यथार्थ स्वरूप समझले तो इस झगडे का अंत एक मिनिट में हो जावे। जैसे—घोर महा भयानक अंधकार का नाश

प्रकाश मात्र से हो जाता है वैसे ही बहुत वर्षों की स्थापना की अपेक्षा से होने वाली कषाय एक ज्ञान मात्र रूपी चिनगारी मे नाश हो सकती है। परन्तु समाज का ज्ञान की ओर लक्ष नहीं है क्योंकि ज्ञान का उपदेश प्राप्त करना लोप ही होगया है और मात्र क्रियाकाण्ड में या शूद्र जल के त्याग में या यज्ञोपवीत धारण कराने में, या जबरदस्ती पंचामृत अभिषेक कराने का कदाग्रह में ही धर्म समझकर विशेष रूप में आदेश त्यागी गण दे रहे हैं। यही समाज की अधोगति होने की अनर्थ की जड है। मिथ्यात्व छुडाने का यदि उपदेश देने में आवे तो समाज की यह अधोगति कभी भी नहीं होती, परन्तु त्यागीगण ऐसा उपदेश दें कैसे ? जो स्वयं अज्ञान के प्रवाह में बह रहा है वह दूसरे को कैसे तार सकता है ? जिसकी नाव फूटी है वह नाव भी डूबेगी और उसमें बैठने वाला भी नियम से डूबेगा। इससे सिद्ध हुआ कि स्थापना निक्षेप का ज्ञान करना बडा ही जरूरी है और इस ज्ञान बिना अपना एवं समाज का कल्याण, और उद्धार होना महा कठिन है या अशक्य है।

वर्तमान पर्याय से अन्य अतीत अनागत पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान पर्याय से कहना यह द्रव्य निक्षेप है। जैसे—बालक को तीर्थंकर कहना यह द्रव्य निक्षेप से कहा

जाता है। द्रव्य निक्षेप भी द्रव्यार्थिक नय का विषय है वहां पर्याय नहीं देखी जाती है भाव देखा जाता है। जैसे–भाव में तो तीर्थंकर हैं और सामने बालक अवस्था है। इन्द्र इस निक्षेप ही से जन्माभिषेक करता है।

वर्तमान पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान में कहना यह भाव निक्षेप है। जैसे समवशरण में विराजमान सर्वज्ञ वीत-राग देव को तीथकर कहना वह भाव निक्षेप से कहा जाता है। जैसा आपका भाव है वैसा ही सामने यथार्थ पदार्थ है। रत्ती भर भी भाव में और सामने पदार्थ में फर्क नहीं है। यह भाव निक्षेप मात्र ही पर्याय र्थिक नय का विषय है।

जैन ग्रन्थ अनेकान्त एवं स्याद्वाद मुद्रा सहित ही होते हैं। ऐसे ग्रन्थ का स्वाध्याय नय निक्षेप ज्ञान विना होना असंभव है। इसलिये जिज्ञासु जीवों को सर्व प्रथम नय निक्षेपादिक का ज्ञान करना बड़ा ही जरूरी है।

शंका–अनेकान्त किसको कहते हैं ? अनेकान्त का क्या स्वरूप है ?

समाधान–द्रव्य अनंत धर्मात्मक है, अर्थात् द्रव्य में अनंत गुण तथा उसकी अनंतानंत पर्याय रूप है।

एक गुण में दूसरे गुण का अभाव होते हुए भी प्रदेश भेद नहीं है। एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का अभाव है। एक पर्याय में दूसरी पर्याय का अभाव है, यह स्वीकार करना उसी ज्ञान का नाम अनेकान्त है। मैं तीनों काल अग्नि रूप हूँ, मेरे में दूसरे द्रव्य का अभाव है, नास्ति है। ज्ञान गुण ज्ञान रूप है ज्ञान गुण में दर्शन गुण की नास्ति है। दर्शन गुण दर्शन रूप है, दर्शन गुण में चरित्र गुण की नास्ति है। चारित्र गुण चारित्र रूप है, चारित्र गुण में वीर्य गुण की नास्ति है। अर्थात् हरेक गुण स्वतंत्रपने अपनी मौजूदगी रखता है। पर गुण दूसरे गुण का परिणमन करा देवे, ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं है प्रत्येक गुण अपने २ अगुरुलघु से अपने में ही परिणमन करता है। इसी प्रकार उत्पाद उत्पाद रूप है, उत्पाद में व्यय की नास्ति है, व्यय व्यय रूप है—व्यय में उत्पाद की नास्ति है, ध्रौव्य ध्रौव्य रूप है ध्रौव्य में उत्पाद व्यय की नास्ति है। ऐसा पर्याय की स्वतन्त्रता जो ज्ञान स्वीकार करता है उसी ज्ञान का नाम अनेकान्त है।

शंका—स्याद्वाद का क्या स्वरूप है ?

समाधान—द्रव्य में जो विकारी पर्याय होती है उसी विकारी पर्याय को उपादान का प्रधानपना उसी

विकारी पर्याय को वही द्रव्य कर्त्ता कहना तथा निमित्त के प्रधान पने उसी विकारी पर्याय का निमित्त कर्त्ता कहना स्वीकार करना ऐसे ज्ञान का नाम स्याद्वाद है। बुद्धि पूर्वक रागादिक का आत्मा को कर्त्ता मानना एवं अबुद्धि पूर्वक रागादिक के कर्म को कर्त्ता मानना यही स्याद्वाद है। तादात्म्य सम्बन्ध से आत्मा चेतन प्राण से जीता है और संयोग संबन्ध से आत्मा चार पुद्गलिक प्राणों से जीता है, यह स्वीकार करना स्याद्वाद है। मात्र आत्मा चेतन प्राण से ही जीता है और चार प्राणों से जीता नहीं है ऐसा कहने वाले एवं मानने वाले ने स्याद्वाद स्वीकार नहीं किया। इसी कारण वह एकान्त मिथ्यादृष्टि है। सम्यग्दृष्टि आत्मा में वर्तमान में रागादिक की पर्याय हो रही है तो भी तो वह

रागादिक का अपने को कर्त्ता न मानकर पुद्गल द्रव्य कर्मों को रागादिक का कर्त्ता मानता है। इसी मान्यता का नाम स्याद्वाद है। रागादिक आत्मा में ही होता है इसी कारण अनेकान्त से कहा जावे कि आत्मा ही रागादिक का कर्त्ता है तब ऐसी मान्यता से तो रागादिक आत्मा का स्वभाव भाव हो जाता है और रागादिक को आत्मा का स्वभाव मानने से स्वभाव का नाश नहीं होता है तब रागादिक का भी नाश नहीं होगा, और रागादिक का नाश नहीं होने से मोक्ष का

अभाव हो जाता है एवं रागादिक छोडने का उपदेश भी व्यर्थ हो जाता है इसी कारण कथंचित् रागादिक का कर्त्ता है कथंचित् रागादिक का कर्त्ता नहीं हैं, परन्तु पुद्गल द्रव्य कर्म कर्त्ता है यह कहका स्वीकार करना स्याद्वाद है।

जिसको पदार्थ के सामान्य का स्वरूप तथा विशेष के स्वरूप का ज्ञान है उस ज्ञानी का नाम सम्यक् ज्ञानी है और ऐसे सम्यक् ज्ञानी के मुख से ही शास्त्र सुनना चाहिये। परन्तु जो जीव मात्र सामान्य को ही मानता है अर्थात् निश्चय नय को ही मानता है और व्यवहार नय को मानता ही नहीं है, ऐसा जीव एकान्त मिथ्यादृष्टि है। ऐसा एकान्त मिथ्यादृष्टि ऐसा ही वस्तु का स्वरूप का प्रतिपादन करता है कि आत्मा चेतन प्राण से ही संसार अवस्था से जीता है, चार प्राण से आत्मा जीता है, यह मिथ्या है। क्योंकि पुद्गल का आत्मा में अत्यन्त अभाव है। ऐसा कहने वाला एकान्त मिथ्यादृष्टि है। वह एकान्त मिथ्यादृष्टि ऐसा ही कहेगा कि आत्मा खाता ही नहीं है, आत्मा में क्रम बद्ध ही पर्याय होती है इत्यादि कहने वाले को निश्चयाभावी मिथ्यादृष्टि कहा जाता है। जो जीव मात्र व्यवहार को ही मानता है परन्तु निश्चय को मानता ही नहीं है। ऐसा जीव भी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही है। ऐसा मिथ्यादृष्टि कहेगा कि

पुण्य करते करते मोक्ष हो जावेगी। भक्ति ही मोक्ष का कारण है। कुछ करते रहो कुछ करते रहो कल्याण हो जावेगा। ज्ञान में क्या पडा है? क्रिया करते करते कल्याण हो जावेगा। ऐसा निश्चयभाषी तथा व्यवहार भाषी दोनों संसार में डूबेगा। परन्तु स्याद्वाद को जानकर संसार से तिर जावेगा। ऐसा स्याद्वादी किसी नय की खेंचातानी नहीं करता है। जब स्याद्वादी निश्चय नय से वस्तु का स्वरूप प्रतिपादन करता है तब वह व्यवहार नय को गौण करता है, एवं जब व्यवहार नय से वस्तु का प्रतिपादन करता है तब निश्चय नय को गौण करता है। ऐसे ज्ञान का नाम प्रमाण ज्ञान है और ऐसे प्रमाण ज्ञान का नाम सम्यक् ज्ञान है।

निश्चयाभाषी मुख से बडी २ बातें ही बनाता है परन्तु राग द्वेष छोडने की तरफ उसका लक्ष ही नहीं है। वह पुण्य भाव को पाप की अपेक्षा भला भाव मानता ही नहीं है। जिस कारण वह निरर्गल प्रवृत्ति कर संसार में नरक निगोद का ही पात्र बन जाता है। जब व्यवहारा भाषी मात्र क्रियाकाण्ड में धर्म मानता है यथार्थ ज्ञान करने का लक्ष ही नहीं है, मात्र पुण्य भाव से मोक्ष मानकर पुण्य भाव की ही चेष्टा करता है वह जीव भी पुण्य भाव

के कारण कुछ पर्याय देव के भोग भोग कर संसार में ही रमता रहेगा। मोक्ष का स्वामी मात्र स्याद्वादी जीव है जो अपनीशक्ति अनुसार रागादिक की यथाथ अर्थात् स्वभाव के लक्ष से निवृत्ति करता है प्रमाद करता नहीं है और शक्ति को छुपाता नहीं है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष के चाहने वाले जीव को नय निक्षेप तथा अनुयोग का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर राग द्वेष की निवृति करना यह एक मात्र मोक्ष का मार्ग है दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं हैं।

शास्त्रों में मोक्ष मार्ग दो प्रकार का दिखाया है। १–निश्चय मोक्ष माग २–व्यवहार मोक्ष मार्ग। निश्चय मोक्ष मार्ग वीतराग भाव का ही नाम है और व्यवहार मोक्ष मार्ग अपूर्ण अवस्था में जो वीतराग भाव की प्राप्ति हुई है इसी की साथ में जो पुण्य भाव है इस पुण्य भाव को व्यवहार मोक्ष माग कहा जाता है। परन्तु व्यवहार मोक्ष मार्ग तो निश्चय मोक्ष मार्ग को घात ही करने वाला है ऐसा जानकर व्यवहार मोक्ष मार्ग का अर्थात् पुण्य भाव का अभाव करते २ निश्चय मोक्ष मार्ग में आरूढ होना वही यथार्थ मोक्ष मार्ग है। परन्तु पुण्य भाव करते करते निश्चय मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होगी ऐसी भावना नहीं करनी।

व्यवहार मोक्ष मार्ग का अभाव से ही निश्चय मोक्ष मार्ग का कारण समझना चाहिये।

भाव कर्म—आत्मा में जो राग द्वेष मोहादि परिणाम होता है उसी परिणामका नाम भाव कर्म है। रागादिक पर द्रव्य के अवलम्बन बिना होता ही नहीं है। यदि रागादिक पर द्रव्य के अवलम्बन बिना ही होता है, ऐसा माना जावे तो रागादिक आत्माके स्वभाव भाव हो जाते हैं और स्वभाव भाव होने से स्वभाव भाव का नाश होता ही नहीं हैं। जिससे मोक्षका भी अभाव हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माका रागादिक स्वभाव भाव नहीं है, परन्तु औपाधिकविभाव भाव है और विभाव भाव नियम से पद के अवलम्बन से ही होता है तो भी पर पदार्थ रागादिक कराता नहीं है। यदि पर पदार्थ ही रागादिक करावे तो पर पदार्थ भी त्रिकाली द्रव्य है और पर पदार्थ त्रिकाली द्रव्य होने से रागादिक भी त्रिकाली रहेगा। इस अभिप्राय से भी मोक्षका अभाव होता है। इससे सिद्ध हुआ कि रागादिकका उपादान कर्त्ता आत्मा ही है और रागादिक होने में पर द्रव्य ही निमित्त हैं।

निमित्त दो प्रकार का है। (१) ज्ञेयका निमित्त (२) रागादिक निमित्त। ज्ञेयके निमित्तका नाम नोकर्म कहा

जाता है और रागादिक के निमित्त का नाम द्रव्य कर्म कहा जाता है।

संसारमें ज्ञेय न होवे और ज्ञानकी पर्याय हो जावे ऐसा कभी भी बन नहीं सकता है। ज्ञेय कारण है और ज्ञानकी पर्याय कार्य है। प्रथम कारण होता है बाद में ही कार्य होता है। कार्य हुए बाद ही कारण को स्वीकार करना यह उचित मार्ग नहीं है क्योंकि यह नियम है कि कारण बिना कार्य की उत्पत्ति होती ही नहीं है। जैसे गधेके सींग होता ही नहीं है। इसीकारण केवली परमात्मामें गधेका सींग झलकता ही नहीं है यदि केवली महा बलवान हैं तो अपने ज्ञानकी गधे के सींग रूप पर्याय बनाती दे ? असम्भव है। क्योंकि ज्ञेय के बिना ज्ञान की पर्याय होती ही नहीं है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम पर्याय ज्ञेय की होती है तत्पश्चात् पर्याय ज्ञानकी होती है। ज्ञेय कारण है ज्ञान की पर्याय कार्य है।

ज्ञेय पदार्थ रागादिक का कारण नहीं है परन्तु आत्मा ज्ञेयको ज्ञेय रूप न देखकर जानकर ज्ञेयको रागादिक में कारण बना लेता है। यही आत्माका अपराध है। इस अपराधमें आत्मा ही कसूरवान है परन्तु ज्ञेय पदार्थ कसूरवान नहीं हैं आत्मा अपराध कर ज्ञेयको निमित्त

बना लेता है। ऐसी अवस्था में आत्मा में अपराध पर्याय हुए बाद ही ज्ञेयमें रागादिक के निमित्तका आरोप आता है। जैसे ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धमें जैसी ज्ञेयकी अवस्था है ऐसी ही ज्ञानकी अवस्था होती है। परन्तु ज्ञेयको रागादिक का निमित्त बनाया जाता है तब ज्ञेयमें रागादिक रूप अवस्था नहीं होती है। परन्तु मात्र आत्मा में ही रागादिक रूप अवस्था होती है। ऐसा सम्बन्ध अर्थात् ज्ञेयको रागादिक का निमित्त बनाना ऐसे सम्बन्धका नाम उपादान निमित्त सम्बन्ध है। ऐसे उपादान निमित्त सम्बन्धमें उपादानकी प्रधानता है, निमित्त गौण है। क्योंकि ज्ञेयको रागादिकका निमित्त बनाना कि नहीं, यह आत्मापर ही आधार रखता है। ऐसी अवस्थामें आत्मा स्वतंत्र है। जैसेः—

दो मनुष्य बैठे हैं। इतने में इनके पास से एक स्त्री अपने स्वाभाविक भावसे जारही थी। इस स्त्री को देखकर एक मनुष्यने अपने भाव में विकार किया। तब वह मनुष्य कहता है कि मेरे विकार भाव होने में यह स्त्री निमित्त है। परन्तु स्त्री में न विकार हुवा है और न उसने विकार कराया है। जब दूसरा मनुष्य कहता है कि स्त्री तो मेरे ज्ञानकी ज्ञेय थी। हमने स्त्री को देखी जरूर है, परन्तु उसने हमको विकार नहीं कराया है। जिस मनुष्यने अपने विकार में स्त्री को

निमित्त बनालिया वह तो उस पुरुष का अपराध है, परन्तु स्त्रीका अपराध नहीं है। ऐसा जहाँ २ अपराध बनाया जाता है उसीका नाम निमित्त उपादान सम्बन्ध है, जिसे शास्त्रीय भाषामें बुद्धिपूर्वक उदीरणा कही जाती है। उदीरणामें उपादानकी मुख्यता है। क्योंकि उसने ही ज्ञेय पदार्थ को निमित्त बना लिया है। दूसरे मनुष्यने तो स्त्री को मात्र ज्ञेय रूप जानी है। इस सम्बन्धका नाम ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध में ज्ञेयकी प्रधानता है ज्ञान गौण है। क्योंकि ज्ञेय बिना ज्ञान होता ही नहीं है। इसीसे ज्ञेय निमित्त है। ज्ञानकी पर्याय कार्य है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धमें जैसा ज्ञेय है वैसी ही ज्ञानकी पर्याय होती है। परन्तु ज्ञेयको रागादिकमें निमित्त बनाने में आत्मामें जैसी रागादिक रूप अवस्था होती है ऐसे ज्ञेय को जो निमित्त बनाया है उसमें रागादिक रूप अवस्था नहीं होती है। इस ज्ञेय ज्ञायक और निमित्त उपादान सम्बन्धमें अन्तर है ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्धमें ज्ञेय कारण बनकर ही आता है अर्थात् प्रथम कारण बादमें ज्ञान रूप कार्य; परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्धमें ज्ञेय विकार का निमित्त बनकर नहीं आया है परन्तु आत्माने ज्ञेयको रागादिक में निमित्त बनाया है। इससे आत्मा का प्रधानपना है।

द्रव्य कर्म—द्रव्य कर्म उसे कहते हैं जो आत्मा को रागादिक का निमित्त पायकर कार्माण वर्गणा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप अवस्था धारण करता है उसको द्रव्य कर्म कहते हैं। द्रव्य कर्म आठ हैं। १—ज्ञानावरण, २—दर्शनावरण, ३—वेदनीय, ४—मोहनीय, ५—आयु, ६—नाम, ७—गौत्र, ८—अन्तराय। इन अष्ट कर्मों में चार कर्म घातिया कर्म कहे जाते हैं:— १—ज्ञानावरण, २—दर्शनावरण, ३—मोहनीय, ४—अन्तराय। यह चारों कर्म आत्मा की भाववती शक्ति को घात करते हैं। ज्ञानवरण कर्म आत्मा के ज्ञानगुण को घात करता है। ज्ञानवरण कर्म कारण है और आत्मा के ज्ञान गुण की हीन अवस्था होना कार्य है। २—दर्शनावरण कर्म आत्मा के दर्शन गुण को घात करता है। जितने अंश में दर्शनावरण कर्म का सद्भाव होगा उतने ही अंशों में आत्मा के दर्शन चेतना गुण की नियम से हीन अवस्था ही होगी। दर्शनावरण कर्म कारण है, दर्शन चेतना की हीन अवस्था कार्य है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का है १—दर्शन मोहनीय, २—चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय—आत्मा के श्रद्धा गुण का घात करता है। आत्मा में मिथ्यात्व भाव रहता है। दर्शन मोहनीय कारण है, आत्मा के श्रद्धा गुण की

मिथ्यात्व रूप अवस्था होना कार्य है। चारित्र मोहनीय आत्मा के चारित्र गुण का घात करता है। जितने अंश में चारित्र मोह का उदय होगा उतने ही अंश में आत्मा को चारित्र गुण की हीन अवस्था ही धारण करना होगा। अर्थात् इतने अंश में आत्मा में रागादिक नियम से होगा ही। चारित्र मोहनीय कर्म कारण है और आत्मा के चारित्र गुण की अवस्था कार्य है।

वेदनीय, आयु, नाम, गौत्र अघातिया कर्म हैं। ये आत्मा के क्रियावती शक्तियों का घात करते हैं। ये घात आत्मा के सुखादि में विघ्न करने वाले नहीं हैं परन्तु मोक्ष होने में जरूर बाधा डालते हैं। वेदनीय कर्म के उदय से आत्मा के अव्याबाध गुण का घात होता है। एवं वेदनीय कर्म बाह्य सामग्री के संयोग वियोग भी कराता है। आयु कर्म आत्मा के शूक्ष्मत्व गुण का घात करता है। जब तक आयु कर्म का उदय है तब तक शूक्ष्मत्व गुण को नियम से अशुद्धावस्था धारण करना ही होगा। आयु कर्म कारण है और शूक्ष्मत्व गुण की अशुद्ध अवस्था कार्य है। नाम कर्म आत्मा के अवगाहना गुण को घात करता है जब तक नाम कर्म का उदय है तब तक उस शरीर के आकार से अवगाहन गुण को रहना ही पड़ेगा। देव नाम कर्म

का उदय आवे तो आत्मा को देव का शरीर धारण करना ही पडेगा। बैल गाडी आदि तिर्यंच नाम कर्म का उदय आने से आत्मा को बैल गाडी आदि अवस्थायें धारण करनी ही पडेगीं। नाम कर्म कारण है और आत्मा की तिर्यंच नारकी मनुष्य देवादि अवस्था कार्य है।

गौत्र कर्म के उदय में आत्मा के अगुरुलघु नाम का गुण नियम से तीन अशुद्ध अवस्था धारण करता ही है। गौत्र कर्म दो प्रकार का है १–उच्च गौत्र २–नीच गौत्र। गौत्र कर्म कारण है और अगुरुलघु गुण की अवस्था कार्य है।

यह द्रव्य कर्म आत्मा की अर्थात् आत्मिक गुण की विकारी अवस्था का ही कारण है। नौकर्म को कारण उपचार से किया जाता है वह तो कारण का भी कारण है। नोकर्म ज्ञेय का कारण है और द्रव्य कर्म आत्मा की विकारी अवस्था का कारण है। द्रव्य कर्म के साथ में आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। परन्तु निमित्त उपादन सम्बन्ध नहीं है। निमित्त नैमित्तक सम्बन्ध में निमित्त से प्रथम अवस्था होती है। बाद में निमित्त के अनुकूल ही नैमित्तिक की अवस्था होती है। निमित्त नैमि-

त्तिक सम्बन्ध में निमित्त का ही प्रधानपना है और नैमित्तिक गौण है। क्योंकि नैमित्तिक को निमित्त के अनुकूल ही अवस्था धारण करनी ही पडती है। यही नैमित्तिक की पराधीनता है।

द्रव्य कर्म आत्मा की विकारी अवस्था में निमित्त है—यह कहना उपचार है। परन्तु पर्याय समयवर्ती है। एक समय में दो पर्याय नहीं होती हैं। इससे एक समय के कर्म का उदय ही आत्मा के विकार का निमित्त है। दूसरे समय में दूसरा निमित्त, तीसरे समय में तीसरा निमित्त इत्यादि। कर्म के उदय के साथ आत्मा की अवस्था का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। द्रव्य कर्म निमित्त कारण है और आत्मा की विकारी पर्याय नैमित्तिक पर्याय कार्य है। प्रथम कारण की अवस्था होती है तत्पश्चात् नैमित्तिक में कार्य रूप अवस्था होती है। जैसे जितना ज्ञानवरणकर्म का उदय होगा उतना ही ज्ञान गुण की हीन ही पर्याय होगी। जितने अंश में मोहनीय कर्म का उदय होगा उतने ही अंश में आत्मा में नियम से रागादिक भाव होता ही रहेगा। मोहनीय कर्म का उदय हो और आत्मा की रागादिक रूप अवस्था न हो ऐसा कभी भी बन सकता नहीं है। जिस नाम कर्म का उदय होगा उसी गति में

आत्मा को जाना ही पडेगा। उस गति में आत्मा न जावे ऐसा बनता नहीं। जितने अंश में आत्मा में पुण्य पाप का भाव होगा उतने ही अंश में द्रव्य कार्माण वर्गणा को नियम से ज्ञानावरणादि रूप अवस्था धारण करनी ही पडेगी। आत्मा का भाव कारण है तत्पश्चात् कार्माण वर्गणा की कर्म रूप अवस्था होना कार्य है। यद्यपि कारण कार्य में भेद है परन्तु समय भेद नहीं है।

कर्म का उदय समय समय में होता ही है और छद्मस्थ-आत्मा का ज्ञानोपयोग असंख्यात समय में ही होता है। ऐसी अवस्था में अज्ञानी जीव ऐसा कहे कि मोहनीय कर्म के उदय में रागादिक करना या नहीं करना आत्मा के हाथ की बात है तो यह कहना उसका व्यर्थ है। प्रथम तो एक समय की पर्याय उस ज्ञान का विषय नहीं है तब वह कैसे कह सकता है कि कर्म के उदय में मैं रागा-दिक न करूं ? दूसरी बात आत्मा के पुरुषार्थ की हीनता है तब तो कर्म का उदय हुआ है। यदि आत्मा के पुरुषार्थ की हीनता न होती तो सामने कर्म का उदय कभी भी नहीं होता। ऐसा अपनी हीन अवस्था में कहना कि कर्म के उदय में रागादिक न करूँ वह भी उसका कहना मिथ्या है तीसरी बात की आत्मा का परिणाम और कर्म के साथ में

आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है, यह भी इसने स्वीकार नहीं किया: क्योंकि कर्म कारण है और आत्मा की रागादिक परणति कार्य है—यह भी उसने स्वीकार नहीं किया अर्थात् निमित्त के अनुकूल ही नैमित्तिक की अवस्था होती है वह भी उसने स्वीकार नहीं किया। जिससे सिद्ध हुआ कि कर्म के (मोहनीय) उदय में रागादिक न करूं यह कहने वाला अज्ञानी अप्रतिबुद्ध मिथ्यादृष्टि ही है।

नोकर्म—आत्मा के रागादिक परिणाम और द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को छोडकर लोक के जितने पदार्थ हैं अर्थात् अनंत जीव द्रव्य अनंतानंत पुद्गल द्रव्य एक धर्म द्रव्य एक अधर्म द्रव्य एक आकाश द्रव्य और असंख्यात कालाणु द्रव्य जिसमें देव—गुरु शास्त्रादि सब आगये, उसका नाम नोकर्म है। नोकर्म हमारे रागादिक का निमित्त नहीं है परन्तु वह तो ज्ञेयका निमित्त है। नोकर्म बिना रागादिक होता नहीं है तो भी नोकर्म रागादिक कराता नहीं है। जैसे जल बिना मछली चल नहीं सकती है तो भी जल मछली को जबरदस्ती से चलाता नहीं है। देवगुरु शास्त्र हमारा कल्याण नहीं कर सकता है तो भी देव—गुरु और शास्त्र का ज्ञान किए बिना धर्म होता भी नहीं, अर्थात् कल्याण होता ही नहीं है। नोकर्म

को जो रागादिक का निमित्त कहा जाता है वह तो उपचार मात्र है अर्थात् वह तो निमित्त का निमित्त है। यथार्थ में रागादिक का निमित्त द्रव्य कर्म ही है। नोकर्म को निमित्त कहना वह तो मात्र बोलने का व्यवहार है। परन्तु नोकर्म ज्ञेय का जरूर निमित्त है—इसके बिना तद्रूप ज्ञानकी पर्याय नहीं हो सकती है। कारण बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है यह अकाट्य नियम है।

नोकर्म के साथ में यदि आत्मा उसको ज्ञेय रूप में देखे तब तो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है और जब आत्मा स्वयं अपराधकर उसीको रागादिकमें निमित्त बनालेता है तब उसके साथ निमित्त उपादान अर्थात् उदीरणाके सम्बन्ध में उदीरणा नियम से बुद्धि पूर्वक अपराध में ही होती है जिसको लेश्या भी कही जाती है।

द्रव्य कर्म के साथ में आत्माका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कर्मके उदयमें ही होता है और कर्मके उदयमें आत्माका अबुद्धिपूर्वक अपराध होता है। जिसमें कषाय शक्तिका प्रधानपना है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में आत्मा पराधीन ही है और निमित्त उपादान सम्बन्धमें आत्मा स्वतंत्र है।

निमित्त उपादान सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टि आत्मा चारित्रकी अपेक्षासे रागादिकका अपनेको ही कर्त्ता मानता है और निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धमें सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादिकका द्रव्य कर्मको कर्त्ता मानता है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि आत्मा रागादिक बुद्धि पूर्वक करनेको चाहता नहीं है परन्तु कर्मके उदयके बल द्वारा रागादिक होजाता है। जैसे कुन्दकुन्द स्वामीको वेदकी उदीरणा नहीं होती है, वेदका भाव करने को भी नहीं चाहता है, तो भी अबुद्धिपूर्वक उसको भी समय समय में वेदका बन्ध पड रहा है। यही तो कर्मके उदयकी बलजोरी है। मानो या न मानो परन्तु आगम तो प्रमाण है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि भाव लिंगी मुनिको भी समय समय में क्रोधादिक चारों कषाय का बन्ध पड रहा है। सम्यग्दृष्टि आत्मा बुद्धि पूर्वक अपराध सातवें गुणस्थान में करता भी नहीं है तो भी कर्मके उदयकी बलजोरीसे रागादिक हो जाता है और बन्ध पड रहा है। ऐसा बन्ध दसवें गुणस्थान तक पड रहा है। बन्ध से रहित वीतराग दशा प्रगट हुए बाद ही होता है और ऐसी दशा बारहवें गुणस्थानके पहले समय में हो जाती है।

इसी प्रकार सतगुरु के मुखसे उपदेश सुनकर विचार

करना, विचार किए बाद उसको धारणा में रखना, उस धारणाका नाम देशना लब्धि है। उपदेश सुनना वह व्यवहार है और उपदेशमें कारण भी व्यवहार सत गुरु का ही हो सकता है।

कोई कारण से देशना-लब्धि हुए बाद भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई और आयु पूरी होगई। पापके उदयसे यदि नरकादि गति में भी जाना पडे तो भी वहां सत देव गुरु और शास्त्रका बाह्यमें निमित्त न होने से भी जीव वेदना के कारण से विचार करे तो वहां भी जातिस्मरण ज्ञानकी प्राप्ति होजाती है, और जो बात पूर्व में देशना-लब्धि में धारणा रूप रखी थी वह बात वहां भी याद आजाती है, और उस पर विचार कर जीव सप्तम नरक जैसे स्थानमें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अपने धारणा ज्ञानको निमित्त बनाकर कर सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि देशना-लब्धि मोक्ष मार्गमें अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में प्रधान कारण है। इससे सिद्ध हुआ कि आगम द्वारा तत्वोंका निर्णय करना यही सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में प्रधान कारण है। तत्त्वोंकी बुद्धि पूर्वक श्रद्धा करना वही आत्माका पुरुषार्थ है और अभ्यन्तर निमित्त दर्शन मोहनीय कर्मका क्षय होना, उपशम होना और क्षयोपशम होना वह तो अबुद्धि पूर्वक

मिल ही जाता है। उसके मिलने से आत्मा नियम से सम्यग्दृष्टि बनेगा ही, इसमें संशय नहीं है।

आत्माका बुद्धि पूर्वक अपराध—संसार के कोई भी पदार्थ-नोकर्म इष्टानिष्ट नहीं हैं, परन्तु मोहादिकके वश होकर आत्मा स्वयं उनमें रुचि पूर्वक इष्टानिष्ट कल्पना करता है। इसी कल्पनाका नाम अनन्तानुबन्धी कषाय है। यदि आत्मा इष्टानिष्ट कल्पना न करे तो नोकर्म आत्मा पर जबरदस्ती नही करता है कि हमको देखकर आप इष्टानिष्ट कल्पना करो। समयसार ग्रन्थ में भी अमृतचन्द्रसूरीने कलश १५१ में कहा है कि हे ज्ञानी! तुझे कभी कुछ भी कर्म करना योग्य नहीं है तो भी तू कहता है कि पर द्रव्य तो मेरा कदाचित् होता ही नहीं है और मैं पर द्रव्य को भोगता हूं तब आचार्य कहते हैं कि यह बडा खेद है कि जो तेरा नहीं है उसीको तू भोगता है? इसी तरह भोगने वाला तू खोटा खाने वाला है। हे भाई! जो तू कहे कि पर द्रव्य के उपभोग से बन्ध नहीं होता है, ऐसा आगम में कहा है इसलिये भोगता हूँ, तो क्या तेरा पर द्रव्यको भोगनेका भाव है? तू तो ज्ञान रूप रह कर अपने ज्ञानका भोगकर, तब तो तुझे बन्ध नहीं है परन्तु तू पर द्रव्यको भोगनेकी इच्छा करेगा तो इच्छा तो तेरी ही है इस इच्छा

से तू नियम से बन्धन में पडेगा। क्योंकि इच्छा करना तेरा ही अपराध है। तब अपने अपराध से नियम से बन्धको प्राप्त होगा।

परन्तु आत्मा स्वयं बुद्धि पूर्वक अपराधकर अर्थात् उदीरणा कर संसार बढा देता है। वह आत्माका ही अपराध है और इस अपराध से द्रव्य कर्म की स्थिति और अनुभाग बढ़ जाता है। अर्थात् सत्तावाले कर्मों में संक्रमण-उत्कर्षण-अपकर्षणादि होता रहता है। ऐसा बुद्धि पूर्वक अपराध छट्टवें गुणस्थान तक ही होता है। क्योंकि सातवें से आगेका गुणस्थान ध्यान अवस्थामें ही होता है। पर द्रव्य बन्धका कारण नहीं है यही बात कुन्दकुन्द स्वामीने श्री समय सार ग्रन्थ के बन्धाधिकार की २६५ वीं गाथा में कहा है कि—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं।
ण य वत्थु होदु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि॥

अर्थ—जीवोंके जो अध्यवसान-भाव है वह वस्तुके अवलम्बन से ही होता है तो भी वस्तु बन्धका कारण नहीं है अध्यवसान से ही बन्ध होता है।

कोई भी नोकर्म बन्धका कारण नहीं है, परन्तु आत्मा

का अपराध ही बन्ध का कारण है। आत्मा बुद्धि पूर्वक अपराध चार संज्ञा द्वारा करता है। (१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा (३) परिग्रह संज्ञा (४) मैथुन संज्ञा। इन चार संज्ञाओंमें विशेषकर पाप भाव आजाता है। पाप भाव किसको करता है यही बात कुन्द कुन्द स्वामीने पंचास्तिकाय ग्रन्थकी गाथा १४० में कहा है कि—

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥

अर्थ—चार संज्ञा और तीन अशुभ लेश्या और इन्द्रियों के आधीन होना, आर्तध्यान, रौद्रध्यान, सत क्रियासे असतक्रियाओं में ज्ञानका लगाना, तथा दर्शनमोहनीय व चारित्र मोहनीयके समस्त भाव हैं वे सभी पापरूप भाव हैं जिनसे आत्मा कर्मोंसे बन्धता है।

आहार संज्ञा—मर्यादित और अमर्यादित आहार लेनेका भाव है। वही आहार संज्ञा है यह पापका ही भाव है। मर्यादित आहार लेनेमें मन्द पापका बन्ध पडता है और अमर्यादित आहार लेने में तीव्र पापका बन्ध पडता है। मर्यादित एवं अमर्यादित तीव्र एवं मन्द पापका कारण नहीं है, परन्तु पापका कारण तो नियम से भाव ही है।

जैसे एक ही चौके में दश मनुष्यों ने एक ही किस्मका आहार लिया तो भी पापका बन्ध सब जीवोंको अपने अपने तीव्र मावादिक रागके अनुकूल ही पडेगा। परन्तु पापका ही बन्ध पडेगा यह तो नियम है। अमर्यादित आहार खानेका भाव छूट गया वही भाव पुन्य भाव है। विशेषकर लोग एवं त्यागी गण अमर्यादित आहार खानेमें पाप मानते हैं और शुद्ध आहार खानेमें पुण्य मानते हैं पर इस मान्यता का नाम मिथ्यात्व मान्यता है। क्योंकि पाप तत्व को पुण्य तत्व मानना मिथ्यात्व है और पुण्य तत्वको निर्जरा तत्त्व मानना मिथ्यात्व है। जो जीव पदार्थ खाता नहीं है परन्तु उसका त्याग नहीं करता है उसीको पापके नियमसे समय २ में पापका ही बन्ध पडता है क्योंकि जब खाता नहीं है तब त्याग क्यों नहीं किया ? त्याग नहीं करनेका कारण भीतरमें वासना नियमसे पडी है और उस वासनाका जबतक त्याग न किया जावे तबतक पापका ही बन्ध पडता है। इसलिये धर्मात्मा जीवोंको ऐसी वासना छोडने के लिये नियमसे त्याग करना उचित मार्ग है। नहीं तो असंयम भावका बन्ध नियम से पडेगा ही।

पदार्थ देखकर आत्मा खानेका स्वयं भाव करता है परन्तु पदार्थ खानेका भाव करता नहीं है। आत्माका

स्वभाव पर पदार्थको देखनेका है परन्तु आत्मा उस पदार्थ को मात्र ज्ञायक न रह कर अपने संज्ञक स्वभावसे च्युत होकर पर पदार्थको खानेका भाव करता है वही आत्माका निजका अपराध है। आत्मा ज्ञेय पदार्थ को ज्ञेय रूप न जानकर अपने रागादिक में उसीको निमित्त बना लेता है। ज्ञेय पदार्थ में रागादिक कराने की शक्ति नहीं है, उसमें तो ज्ञेय बनने की शक्ति है, परन्तु आत्मा अपराध कर उसको अपने रागादिक में निमित्त बना लेता है। निमित्त होना और निमित्त बनालेना इसमें महान अंतर है। निमित्त उसीका नाम है जो नियमसे कार्य मे परिणत करावें।

भय संज्ञा—भय सात प्रकारका होता हैं। १ ईहलोक भय (२) परलोक भय (३) वेदना भय (४) मरण भय (५) अकस्मात् भय (६) अरक्षाभय (७) अगुप्ति भय। यह भय अज्ञानीको ही होता है क्योंकि वस्तु—पदार्थ के स्वरूप का उसको ज्ञान नहीं है। वह तो शरीरको ही जीव मानता है और शरीरके नाश से अपना नाश मानता हैं। मुखसे कभी कभी ऐसा भी बोलें कि जीव और शरीर भिन्न है परन्तु यह तो मात्र बोलने की बात हैं, यथार्थ श्रद्धा नहीं है। क्योंकि स्वरूपका ज्ञान बिना श्रद्धा कभी होती ही नहीं है। जब तक श्रद्धा न होवे तब तक भय जरूर रहता है।

जीवन की रक्षा करने का भय, कुटुम्बादिक को कोई मार न डाले, इसकी रक्षा का भय, दश प्रकारके परिग्रह की रक्षाका भय, मेरे शरीर में एवं मेरे निकट के सम्बन्धी के शरीरमें रोगादिक की उत्पत्ति न हो इस प्रकार का भय इत्यादि अनेक प्रकारके भयका परिणाम आत्मा में होता है। इसीका नाम भय संज्ञा है। भय संज्ञा पाप प्रकृति है जिस कारण से भयके भाव से आत्मा में पापका ही बन्ध पडता है। इस भयका मूल कारण पदार्थका यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं होना है। इस अज्ञान भावका नाम मिथ्यादर्शन है। लोकमें जितने पदार्थ हैं वे सब नोकर्म हैं। अपना शरीर, माता पिता, पुत्रादि सब नोकर्म हैं। परन्तु जीव नोकर्मको निमित्त बनाकर उसकी रक्षा के लिये भयवान है। शरीर आदिक की रक्षा करना आत्माके हाथकी बात नहीं है। क्योंकि शरीर पर मालिकी आत्माकी नहीं है. परन्तु शरीर पर मालिकी द्रव्य कर्म की है। आत्मा शरीर आदिक का मालिक बनकर दुखी हो जाता है तो भी शरीर उसके अनुकूल परिणमन नहीं करता है। शरीरको पुष्ट बनाने के लिये बादाम आदि टोनिक वस्तुओं को ग्रहण कर उनसे खून वीर्य आदिका बनना आत्माकी इच्छा के आधीन नहीं है। वह तो जैसा २ कर्म का उदय होगा वैसी २

अवस्था धारण करेगा। आप नहीं चाहते हैं पर काल पाकर बाल कालासे सफेद हो ही जाता है। आप नहीं चाहते हैं और काल पाकर दांत गिर ही जाते हैं। आप नहीं चाहते हैं और शरीरमें काल पाकर झुर्रियां पड ही जाती हैं। तो भी आत्मा शरीरकी रक्षा के लिये भयभीत है। आत्मा अज्ञान के कारण अपने ज्ञायक स्वभाव से च्युत होकर शरीर कुटुम्बीजन आदिक में रक्षा और रक्षक भाव उत्पन्न कर भयवान बना ही रहता है। यह सब आत्माका बुद्धि पूर्वक अपराध है।

परिग्रह संज्ञा—मूर्च्छाका नाम परिग्रह है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है; परन्तु अपने स्वभावका ज्ञान न होने के कारण पर पदार्थ में सुखकी कल्पना कर महादुखी हो रहा है। परिग्रह पाप की जड है। जहां परिग्रह रखनेका भाव है वहां पाप ही है। मूर्च्छा महा दुखदायी है, पदार्थ दुखदायी नहीं है। जीवकी हिंसा में पाप लगे या न भी लगे परन्तु जहां मूर्च्छा है वहां नियम से पाप ही है, आकुलता ही है। पासमें एक कोडी नहीं है परन्तु मूर्च्छा लाखोंकी रखकर जीव दुखी हो रहा है। जिसके पासमें लाखों रुपये हैं परन्तु वहां मूर्च्छा करोडों की है, इससे लखपती भी महान दुखी है। भाई भाई में झगडा होनेका

मूल कारण तो परिग्रह ही है। जिसने परिग्रह को मूर्च्छाको जीत लिया उसने सबको जीत लिया। वही जीव मोक्षका पात्र बन गया, वही पूज्य बनगया। इससे सिद्ध हुआ कि मूर्च्छा का त्याग ही धर्म है, वही सच्चा सुख है, वही मोक्ष के मंदिर में पहुंचाने वाला जहाज है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा न रहकर बुद्धि पूर्वक अपराधकर धनादि दश प्रकारके बाह्य परिग्रह-संचय में सारा पुरुषार्थ कर रहा है? परन्तु बाह्य सामग्री आत्माके पुरुषार्थ से मिलती नहीं है। वह तो मात्र साता वेदनीय कर्म के उदय से ही मिलती है। जिसके लिये पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। धन कमावे, तहां कहेगा हमने कमाया, हमारी बुद्धि से कमाया, परन्तु जहां धन गुमावेगा वहां कहेगा कि भाग्य में नहीं था। परन्तु मूर्ख कमाते वक्त क्यों ऐसा नहीं कहता है कि भाग्य में था सो मिला। यदि इतनी श्रद्धा हो जावे तो बहुत शान्ति मिल जावे। परन्तु इतनी श्रद्धा करे कहां से? पदार्थ का ज्ञान तो है नहीं, धर्मकी रुचि भी है नहीं, पीछे शेखचिल्लीका विचार न करे तो करे क्या? मन तो बन्दरकी जातिका है अर्थात् बहुत ही चंचल है। वह शान्त नहीं बैठ सकता। कुछ से कुछ विकल्प तो नियम से करेगा ही। परन्तु इसी मन रूपी बन्दरको स्वाध्याय में लगा दे तो शान्त होने के साथ २

कल्याण के मार्ग पर आजावे। परन्तु शास्त्र-स्वाध्याय की ओर रुचि ही नहीं होती है। गृहस्थके लिये उत्तम मार्ग यह है कि यदि वह सुखी होना चाहता है तो वह नियमसे परिग्रहकी मर्यादा करे। इसमें उसको क्या खाना पीना छूट जाता है? परन्तु लक्ष ही नहीं। लाख रुपयेवाला दो लाख के परिग्रहकी मर्यादा तो करले। पीछे देखो कि कितनी आकुलता कम हो जाती है। जो करोडों का विकल्प उठता था वह सब विकल्प आप से आप विलय हो जावेगा। जो विकल्प मिट जावे उसीका नाम तो सुख है। और सुख है क्या? यह परिग्रहका परिमाण बुद्धि पूर्वक ही करने का है। यह परिमाण न करे तो किसका अपराध है। आत्माका ही अपराध है। पदार्थका त्याग किया नहीं जाता है परन्तु यथार्थ में मूर्च्छाका त्याग किया जाता है। जिसने मूर्च्छाका त्याग किया वही सच्चा त्यागी है। जो पदार्थ को मात्र त्यागता है वह तो ठगा हुआ आत्मा है। उसको शान्ति की गन्ध भी मिल नहीं सकती है। इससे सिद्ध हुआ कि जो परिग्रह संचय करने का भाव है मूर्च्छा है। वही पापकी एवं अनर्थकी जड है।

मैथुन संज्ञा—स्त्री पुरुष एवं दोनों के साथ रमण करने के भावका नाम मैथुन संज्ञा है। इसमें खाना पीना तो है

ही नहीं, मात्र स्पर्श इन्द्रियका विषय है। परन्तु इस विषय में इतनी शक्ति है कि आत्माको पागल बना देता है। पांच पाप में काम वासना को जीतना महा कठिन है। आत्माका स्वभाव देखना जानना है; परन्तु वह अपने स्वभावसे गिर कर जहाँ स्त्री पुरुष का रूप देखता है वहां पागल बन जाता है, तुरन्त विषय सेवनकी भावना पैदा कर लेता है। मिलता कुछ नहीं है, परन्तु काम विकार से देखे बिना उससे रहा नहीं जाता है। यही तो आत्माका अपराध है। स्त्री को देखना पाप नहीं है वह तो आत्माका स्वभाव है। परन्तु विकार भाव से देखना पाप है। सोलह वर्ष की लडकी विधवा हो जावे तो वहां तो आत्मा चाहता है कि यह लडकी यथार्थ ब्रह्मचर्य का पालन करे, परन्तु आप स्वयं ५० वर्षकी उम्र का है तो भी अब्रह्मका सेवन करना नहीं छोडता है। यह आत्माका मूर्खपना नहीं है तो क्या है? माता विधवा पुत्री के पास में प्रसूति का कार्य करावे वहां कितने शर्म की बात है। परन्तु काममें अंधा उस तरफ देखता ही नहीं है। अपने छोटे बच्चोंके सामने जिसको विषय सेवन करने में शर्म नहीं है वह जीव अपने बच्चे से सुखकी कल्पना कैसे कर सकता है? विचार की बात है। बेटेको धर्म की शिक्षा देना तो नहीं चाहता है और

उसके पाससे सुखकी आशा रखे वह तो आकाश पुष्प जैसी आशा है। उचित मार्ग तो यह है कि अपने घरमें अपनी बेटी या बहू पापके उदय से विधवा बन जावे तो माता पिता या सासू श्वसुरका फर्ज है कि वह भी ब्रह्मचर्य का पालन कर अपनी पुत्री या बहूको भी धर्मात्मा बनाने की चेष्टा करे। दोनोंका कल्याण हो जावेगा। परन्तु काम वासना ऐसी है कि साठ २ वर्ष के बूढा हो जावे तो भी ब्रह्मचर्य पालन करने का भाव नहीं है। यह किसका अपराध है? पागल आत्माका ही अपराध है। यह अपराध बुद्धि पूर्वक विवेक से ही छूट सकता है। परन्तु आत्मा उसकी ओर लक्ष करे तब तो। संसार में रहकर सुखी बनना चाहता है तो गृहस्थको जब संतान की उत्पत्ति हो तब से दो वर्ष तक तो नियम से ब्रह्मचर्य से ही रहना चाहिए। जिससे बच्चेको अपनी माताका दूध पीने का ठीक २ समय मिले। पिताकी भी वीर्य शक्तिमें बढवारा हो और दो वर्ष में माता भी अपनी प्रकृति में गुमाई हुई शक्तिको प्राप्त कर ले। यह मार्ग तो उत्तम सर्व प्रकारसे है परन्तु ग्रहण करे कौन? जो विषय में अंधा बना है वह कैसे मानेगा? तेरह वर्ष की लडकी के साथ शादी करे कि जिस लडकी का तो अभी बाल्यावस्था है जिसका

अभी तो खेलने कूदने का दिन है। परन्तु विचार कौन करता है। विषय में अंधे बने मनुष्य ऐसी छोटी २ बालिका के साथ पत्नी का व्यवहार कर विषय भोगमें आनन्द मान रहे हैं। जहां तीन वर्ष न हुए अर्थात् लडकी की (पत्नी की) १६ वर्ष की उमर हुई, और वह तो तीन बच्चे की माता बन गई। यही पत्नी १६ वर्ष में तो बुड्ढी जैसी मालुम पडने लगी ! एक प्रसूति में स्त्री की आधी शक्ति हीन हो जाती है, उस तरफ विषयी पुरुषों का लक्ष नहीं है। वे तो अपनी स्त्री को भोग का एक साधन बनाकर अंधे बने रहते हैं। सुखी होने का एक ही मार्ग है कि अपनी लडकियों की १७-१८ वर्ष के पहले शादी न करे। और आप स्वयं औषधि के रूप में विषय सेवन करे। भावना यह रखना चाहिये कि यह वासना भी कब और कैसे मिटे। अपने घर अपनी पुत्री और पुत्र की शादी होजावे तब से आजीवन ब्रह्मचर्य से जीवन बिताना चाहिये। यही गृहस्था-वस्था के सुख का मार्ग है। आप भी धर्मात्मा बनें और अपनी संतान को भी धर्मात्मा बनाने की चेष्टा करे। पीछे देखो कि आपका पुत्र आपका पैर चाटता है कि नहीं। पुत्र से सेवा कराना चाहते हो तो पहले आप धर्मात्मा बनिए। आपको तो रावण बन कर रहना है और पुत्र रामचन्द्र

जैसा चाहते हैं। यह कल्पना गधे के सींग जैसी ही है। आप दशरथ बनिये आपका पुत्र रामचन्द्र स्वयं वन जावेगा। परन्तु यह सब बने कब ? आत्मा शास्त्राभ्यास कर अपने स्वरूप का ज्ञान करे। तब शास्त्र–स्वाध्याय का नियम रखो। इसमें आपका खाना पीना छूट जाता है क्या ? आप में शक्ति होवे तो त्याग करो, परन्तु कम से कम १५ मिनिट शास्त्र स्वाध्याय तो करते रहो। ज्ञान अर्जन कीजिए पीछे त्याग तो आप से आप आपको पीछे आपकी छाया की ओर दौडा आवेगा। स्वाध्याय की ओर रुचि नहीं है यही आत्मा का अपराध है। और यह अपराध मात्र ज्ञान से ही छूट सकता है।

अपनी लडकी की १७-१८ वर्ष के बाद ही शादी करना चाहिये। इस से पहले शादी कर देना यह तो लडकी का खून करना बराबर है। अपनी लडकी को तंदुरुस्त सुखी देखना चाहते हो तो उस की छोटी उमर में शादी कभी भी नहीं कर देना चाहिये ?

शंका—रजस्वला हुए बाद लडकी को घरमें रखना या बालकुमारी रखना यह महा पाप है। ऐसा शास्त्र में कहा है ?

समाधान—यह तो शास्त्र में बात लिखी नहीं है। आप की स्वयं की बनाई हुई कल्पना है। लडकी अब्रह्म का सेवन करे यह पाप है कि ब्रह्मचर्य का पालन करे यह पाप है। विचारो तो जरा। आगे के जमाने में लडकी बडी २ उम्र की हुए बाद ही स्वयंवर मंडप में वरमाला डाल कर अपनी शादी करती थी। वे लडकियां कितने वर्ष की होंगी? विचारना चाहिये। देखो कैकेयी ने राजा दशरथ का लडाई में सारथी का कार्य किया। सीता सुलोचना आदि महान सतियों का दृष्टांत देखो। कितनी विवेकशील हुए बाद ही उन्होंने शादी की थी। रजस्वला होना वह आत्मा के हाथ की बात नहीं है। रजस्वला होना पाप नहीं है, परन्तु अब्रह्मका सेवन करना पाप है। रजस्वला तो अर्जिका भी होती है। तो क्या वह पापिनी है कि धर्मात्मा जीव है? रजस्वला होना वह तो कर्म के आधीन है। अब्रह्मका सेवन करना कि ब्रह्मचर्य का पालन करना वही आत्मा के हाथ की बात है। आप भी ब्रह्मचर्य की रक्षा करो और अपना बच्चा भी ब्रह्मचारी बने—यही भावना कार्यकारी है। जिसमें अखंड ब्रह्मचर्य पालन करने की शक्ति न हो वह जीव एक पति और एक स्त्री में संतोष करे, इस भावना से गृहस्थाश्रम की उत्पत्ति होती

है। परन्तु स्वदारा में आसक्त बनजाना वह उचित मार्ग नहीं है। स्वदारा में संतोष करना इस का यह अर्थ नहीं है कि निरर्गल विषय सेवन करना। विषय सेवन करते हुए भी भाव विषय छोडने का ही रखना चाहिये। भावना यह होनी चाहिये कि हे आत्मा विषय सेवन में क्या आनंद है, वह तो देख लिया। अब यह भावना छोडकर ब्रह्मचारी कब बन जाऊँ-इसी भावना के सेवन से आत्मा एक दिन मैथुन संज्ञा से बच जावेगा और धर्म के मार्ग पर आत्मा आरूढ बन जावेगा। यही धर्मात्मा जीवों का क्रम है।

जिस प्रकार चार संज्ञा पाप का ही भाव है उसी प्रकार तीन अशुभ लेश्या अर्थात् कृष्ण लेश्या, नील लेश्या एवं कापोत लेश्या भीपाप का ही भाव है। पांच इन्द्रिय का विषय भोगने का भाव तथा इकट्ठा करने का भाव पाप का ही भाव है। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का भाव पाप का ही भाव है। हिंसा का उपकरण बनवाना पाप का ही भाव है। मिथ्यात्व का भाव पाप का ही भाव है। सब से बडा पाप मिथ्यात्व का ही है जिसको जीव पिछानता भी नहीं है। लाखों मनुष्यों की हिंसा में जितना पाप नहीं है इससे विशेष पाप एक मिथ्यात्व भाव में है। अतः सर्व प्रथम मिथ्यात्व भाव छोडने का पुरुषार्थ करना

चाहिये। परन्तु समाज के त्यागियों का इस ओर लक्ष ही नहीं है और क्रियाकाण्ड में धर्म मानकर और धर्म को डुबा दिया। धर्म को डुबा दिया यह कहना व्यवहार है परन्तु निश्चय में अपनी ही आत्मा को डुबा दिया यह सत्यार्थ है। कषाय का भाव पाप का ही भाव है। परन्तु कषाय छोडने का उपदेश देनेवाले जीव भी संसार में बहुत कम हैं। जहां देखो वहां पर पदार्थ छोडने का उपदेश है। विषय छोड दिया तो क्या हुआ, कषाय तो छूटा नहीं है। साँपने कांचली छोडदी परन्तु विष छुटा नहीं तो क्या हुआ? क्रियाकाण्डी जीव विषय ही छोडने का उपदेश देता है। तब ज्ञानी जीव रागद्वेष छोडने का उपदेश देता है इन दोनों में महान अन्तर है। क्रियाकाण्डी जबरदस्ती से त्याग कराता है तब ज्ञानी मात्र ज्ञान कराता है। ज्ञान आने से त्याग तो स्वयं आजाता है। त्याग ज्ञानपूर्वक ही होना चाहिये। जिसने ज्ञानपूर्वक रागादिक का त्याग किया वही जीव सच्चा धर्मात्मा है एवं सच्चे सुख को प्राप्त कर सकता है। अज्ञान दशा में तो जीवने अनंत दफे त्याग किया, घर छोडा, राज छोडा, जंगल बसाया, नग्न दिगम्बर मुनि भी बना, परन्तु ज्ञान बिना वह सब पानी बिलोवना तुल्य हुवा। इसलिये यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति करना यही सच्चे

सुखको पाने का मार्ग है। लाखों वर्ष का तप करो परन्तु तप से मिथ्यात्व का नाश नहीं होता है, देखिये विशल्या का जीव। परन्तु मिथ्यात्व नाश तो मात्र ज्ञान से ही होता है। ज्ञान बिना मिथ्यात्व का नाश कभी हो ही नहीं सकता है। इससे सिद्ध हुआ कि प्रथम आगम द्वारा ज्ञान अर्जन करो, ज्ञान से तत्त्व का निर्णय करो और तत्त्व के निर्णय हुए बाद ही संयम भाव से सच्चा सुख मिल सकता है। कहा भी है कि आगम ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान और संयम भाव मोक्षका कारण है और आगम-ज्ञान-शून्य मुनि भी बनजावे तो भी वह स्वयं डूबता है और दूसरे जीवों को डुबाने में निमित्त बन जाता है।

प्रायोग्य लब्धि—जब आत्मा में देशना-लब्धि प्राप्त होती है अर्थात् पदार्थ का ज्ञान हो जाता है तब उस जीव के प्रथम मांस मदिरा और मद्यादि पदार्थों का सेवन करने का भाव मनुष्य पर्याय में सहज छूट जाता है। इतना तो वह अपने आचरण में सुधार कर ही देता है। जब तत्त्वका ज्ञान प्राप्त किया तब वह आत्मा स्वयं पर पदार्थों से उदासीन बन ही जाता है और उसका उपयोग राग द्वेष छोडने पर स्वयं आजाता है। जब उसकी धर्म की ओर रुचि होती है तब इस धर्म की रुचि के कारण

उसका इतना परिणाम विशुद्ध होता है कि जिस कारण से पूर्व बन्धे हुए कर्मों की स्थिति जो लंबी थी वह कर्मों की स्थिति आप से आप अन्तः कोडाकोडी सागर प्रमाण रह जाती है और नवीन जो कर्मों का बन्ध पडता है वह भी अपने विशुद्ध परिणामों के कारण अन्तः कोडाकोडी के भीतर संख्यातवें भाग मात्र नवीन बन्ध पडता है। कितनी ही इन पाप प्रकृतियों का बन्ध मिटजाता है और नवीन जो कर्मों का बन्ध पडता है वह कम स्थिति और अनुभाग सहित पडता है। ऐसा आत्मा के विशुद्ध परिणामों का नाम प्रायोग्य लब्धि है।

यह चार लब्धि रूप परिणाम भव्य और अभव्य दोनों आत्मा में हो सकता है। भव्य और अभव्य आत्मा के गुण नहीं हैं परन्तु वह तो आत्मा में श्रद्धा नामका गुण है, जिसकी अवस्था है जो सहज अनादिकी बनी हुई है, किसी ने बनाई नहीं है जिस कारण उसी का नाम पारिणामिक भाव कहा जाता है। पारिणामिक भाव उसका नाम है जिस में कर्म का सद्भाव और अभाव कारण न हो परन्तु स्वयं आप से आप बना हो। उसका नाम पारिणामिक भाव है। जैसे एक मूंगकी फली में बहुत मूंग के दाने हैं। उनमें एक ही दाना कोरडू होजाता है। उस दाने को कोरडू किसने

बनाया ? सहज आप से आप बनगया है। कोरडू और कोई चीज नहीं है उस मूंग में जो स्पर्श नाम का गुण है, उस गुण की एक विशिष्ट प्रकार की कठोर अवस्था है। उसी प्रकार अभव्य भी श्रद्धा गुण की एक विशिष्ट प्रकार की अवस्था है कि जिसके आत्मानुभूति कभी भी नहीं होती है।

बहुत जीव ऐसा कहते हैं कि भव्य और अभव्य आत्मा का गुण है क्योंकि गुणका नाम पारिणामिक भाव है, परन्तु उनका यह कहना गलत है। गुण तो सब आत्माओं में समान हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि गुण की अपेक्षा सबकी आत्मा सिद्ध परमात्मा जैसी है।

चारों लब्धि रूप परिणाम होने के बाद सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो भी सकती है और कभी न भी होवे, खास नियम नहीं है। परन्तु चार लब्धि बिना कभी भी नहीं हो सकती है यह नियम है। इसलिये सम्यग्दर्शन प्राप्त करने वाले जीवों को यह चार लब्धि रूप भाव प्राप्त करना आवश्यक ही है।

प्रायोग्य लब्धि रूप भाव में जीव अपने को धर्मात्मा मान लेता है। लोक भी उसीको भक्त, धर्मात्मा आदि नामों से सम्बोधन करते हैं जिससे जीव अपने को कृत कृत्य मान बैठता है। क्योंकि पुण्य भाव महा ठगारा है

यही भाव जीव को धर्मात्मा मानने में ठग जाता है। इससे जीव करणलब्धिरूप भाव में आगे बढता नहीं है। जिससे इतना पुरुषार्थ करते हुए भी मिथ्यादृष्टि का मिथ्यादृष्टि रह जाता है। इससे ऐसा ठगारा पुण्य भाव से सावधान रहना यही आगे बढने का मार्ग है।

करणलब्धि—करण लब्धि रूप आत्मा का परिणाम बहुत ही सूक्ष्म भाव है। यथार्थ में इस भाव का वचन से प्रतिपादन करना अशक्य है परन्तु इस भाव से कर्मों में क्या अवस्था हो जाती है इसी पर से भाव का अनुमान आ सकता है। करण लब्धि रूप भाव ध्यान अवस्था में ही होता है। करण लब्धि रूप भाव होता है तब आत्मा नियम से सम्यग्दर्शन प्राप्ति करेगा ही। इस भाव में आत्मा गिर जावे ऐसा बनता ही नहीं है। यह भाव ऐसा भाव है कि आत्मा अपने ध्येयको पाजाता है। यह तो इस भाव की विशेषता है। जिस जीव को मिथ्यात्व भाव का अभाव होने में अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है तब ही उसी जीवको करण लब्धि भाव होता है। यह निमित्त की अपेक्षा से कथन किया जाता है। जिस जीवको करण लब्धि रूप भाव की प्राप्ति करना है उसीको बुद्धि पूर्वक इतना ही पुरुषार्थ करना चाहिये कि तत्त्व-विचार में अपने

उपयोग को लगावे। मात्र नाम निक्षेप से आगम का शब्द बोल जाना, इसीका नाम तत्व निर्णय नहीं है, परन्तु जीव तत्व किस का नाम है यह जानने के लिए पुरुषार्थ करे। अजीव तत्त्व को अजीव तत्त्व रूप श्रद्धान करे परन्तु आत्माकी अजीव तत्व रूप अवस्था ही नहीं है ऐसा नहीं है। पुण्य तत्वको पुण्य तत्व रूप माने, पुण्य भाव को पुण्य भाव माने, परन्तु पाप भावको पुण्य भाव मानना अर्थात् शुद्ध आहार खाने का भाव पाप भाव है उसीको पुण्य भाव मानना अथवा उपवास का भाव पुण्य भाव है उसी को पुण्य रूप मानकर संवर निर्जरा भाव माने यह तत्व निर्णय नहीं है। यह तो आत्मा का बुद्धि पूर्वक अपराध है। यह तो अतत्व श्रद्धान भाव है। आश्रव भाव को आश्रव भाव जाने परन्तु आश्रव भावको जाने नहीं और मुख से पाठ बोला करे कि आश्रव सत्तावन है यह तो अतत्व भाव है। सत्तावन आश्रव में आत्मा का आश्रव कितना है यह प्रश्न पूछे कि तुरन्त जवाब देवेगा कि महाराज यह बात शास्त्र में लिखी नहीं है या मैं नहीं जानता, तो भाई तैंने आश्रव तत्व को क्या जाना। इसी प्रकार बन्ध भाव को बन्ध का भाव मानना चाहिये, परन्तु अरहन्त भक्ति को अच्छा भाव माने और तीर्थंकर गौत्रका मुझे कब बन्ध हो इसी की

भावना करे—भक्ति करे तो बन्ध तत्त्व का ज्ञान क्या किया ? बन्ध की भावना करनी चाहिये कि बन्ध से छूटने की भावना करनी चाहिये ? तीर्थंकर गौत्र का भाव तो बन्धन का भाव है। उस की भावना करना अर्थात् बन्धन की भावना करना मिथ्यादृष्टिपना है। भावना तो बन्धन से छूटने की करनी चाहिये। अतः ऐसे जीवको बन्ध तत्व का भी यथार्थ ज्ञान नहीं है। संवर तत्व में पंच महाव्रत, पांच समिति, तीन व्यवहार गुप्ति को संवर मानता है। उसने संवर भावका ज्ञान क्या प्राप्त किया ? तेरह प्रकार के चारित्र, दश प्रकार के मुनि धर्म, बाईस प्रकार के परिषहजन्य भाव को तथा बारह प्रकार की भावना के भावको यदि वह संवर मानता है तो वह अज्ञानी जीव है। उसने इन सभी पुण्य भावको संवर माना तो संवर तत्त्वका ज्ञान कहाँ किया ? संवर को संवर जानना—मानना चाहिये और निर्जरा भाव को निर्जरा जानना मानना चाहिये। परन्तु बारह प्रकार के तप के भावको निर्जरा माने तो इस को निर्जरा तत्त्व का ज्ञान नहीं है। बारह प्रकार के तपका भावतो पुण्य भाव है। पुण्य भावको निर्जरा भाव मानना अज्ञान भाव है। इससे सिद्ध हुवा कि मात्र नाम निक्षेप से तत्त्व को जानना यथार्थ नहीं है। आत्मा के परिणामों को यथार्थ जानना उसका नाम बुद्धि पूर्वक तत्त्व निर्णय है। तत्त्व निर्णय करने में

आत्मा का उपयोग लगता है जिससे आत्मा का परिणाम समय २ में निर्मल होता जाता है। उन निर्मल परिणामों से मिथ्यात्व कर्म की स्थिति तथा अनुभाग हीन २ होता जाता है।

करण लब्धि के तीन भेद हैं। (१) अधःकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण। ये तीन प्रकार का करण आत्मा का भाव ही है। जिसमें पहले २ समय के परिणाम समान हो, उस भावका नाम अधःकरण है। जैसे किसी जीवका परिणाम उस करण के पहले समय में स्तोक विशुद्धता लिये हो और आगे २ समय में विशुद्धता लिये बढे। द्वितीय समय में तृतीय समय में परिणाम हो वैसा परिणाम कोई अन्य जीवको प्रथम समय में भी हो। उसके उन परिणामों से समय २ पर अनन्त विशुद्धता लिये बढे। ऐसे परिणामों का नाम अधः करण परिणाम हैं। जिसके पहले पिछले समय के परिणाम समान न हो, अपूर्व २ ही हों, अर्थात् पूर्व में जो परिणाम हुए हों उनमें विशेष निर्मल परिणाम हो। उस परिणाम का नाम अपूर्व करण है। अपूर्व करण में भी सब जीवों के परिणाम समान और असमान होते हैं, ऐसा कोई खास नियम नहीं है। और जिसमें समान समयवर्ती जीवों के परिणाम समान

ही हो ऐसे समान ही परिणाम वाले जीवों के परिणाम समय २ में अनन्त गुणी विशुद्धता लिये हो। उन विशुद्ध परिणामों का नाम अनिवृत्ति करण परिणाम है।

पहले अन्तर्मुहूर्त्त काल पर्यंत अधःकरण परिणाम होता है, उसमें चार विशेषताएँ होती हैं। समय २ में अनन्त गुणी परिणामों में विशुद्धता हो, अन्तर्मुहूर्त कर नवीन बन्ध की स्थिति घरती हो, जिसको शास्त्रीय भाषा में स्थिति बंधापसरण कहा जाता है। और समय २ प्रशस्त २ प्रकृति का अनन्तगुण अनुभाग बढे और समय २ अप्रशास्त प्रकृति का अनुभाग बन्ध अनन्तवें भाग हीन हो। इस प्रकार परिणाम द्वारा चार कार्य होते हैं। अधःकरण के जो काल है इससे संख्यातवें भाग अपूर्वकरण का काल है। अपूर्वकरण परिणाम में अन्तर्मुहूर्त्त कर सत्यभूत कर्म की जो स्थिति थी उस स्थिति को घटा देता है। उसको शास्त्रीय भाषा में स्थितिकान्डक घात कहते हैं, और उस परिणाम द्वारा पूर्वका जो अनुभाग था, उसको भी घटाता है जिसको शास्त्रीय भाषा में अनुभागकान्डकघात कहते हैं। गुणश्रेणी के काल में क्रम से असंख्यात गुणा प्रमाण लिये कर्म को निर्जरायोग्य करता है उसको शास्त्रीय भाषा में गुण श्रेणी निर्जरा कहते हैं। अपूर्वकरण के

परिणाम के बाद अनिवृत्ति रूप परिणाम होते हैं। अनिवृत्ति परिणाम का काल अपूर्व करण के काल से भी संख्यातवें भाग है। अनिवृत्तिकरण काल के पीछे उदय आने योग्य मिथ्यात्त्व कर्म के निषेकों का उदय नहीं होने से उस समय में उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है, और उसी समय में मिथ्यात्त्व कर्म की प्रकृति के तीन टुकडे हो जाते हैं। (१) मिथ्यात्त्व (२) मिश्रमोहनीय (३) सम्यक्त्वमोहनीय। ये तीनों करण के भाव ध्याना-वस्था में ही होते हैं। इस तरह के आत्मा के परिणामों से सम्यग्दर्शन रूप परिणाम की प्राप्ति होती है।

इतना विशेष है कि अनादि मिथ्यादृष्टि के तो एक मिथ्यात्व प्रकृति का ही उपशम होता है क्योंकि उसके मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की सत्ता नहीं है। जब जीव उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होय तब सम्य-क्त्व के काल विषै मिथ्यात्व कर्म के परमाणु को मिश्र मोहनीय रूप और सम्यक्त्व मोहनीय रूप परिणमाता है तब तीन कर्म की प्रकृति रूप सत्ता हो जाती है। इसलिये अनादि मिथ्यादृष्टि के मात्र एक मिथ्यात्त्व कर्म की प्रकृति की सत्ता है उसको ही उपशम करता है।

किसी २ सादि मिथ्यादृष्टि जीव के तीन कर्म की प्रकृति की सत्ता रहती है। और किसी २ को मात्र मिथ्यात्व

कर्म की प्रकृति की सत्ता रहती है। जिस जीवने मिश्रमोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय की उद्वेलना कर उन दो कर्मों की प्रकृति के परमाणुओं को मिथ्यात्व रूप परिणमा दिया है उस जीवको मात्र एक मिथ्यात्व कर्म की सत्ता है।

उपशम सम्यक्त्व वर्तमान काल विषै क्षायक सम्यग्दर्शन की तरह निर्मल है, परन्तु उपशम सम्यक्त्व में प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता है इसलिये अन्तर्मुहूर्त काल तक यह उपशम सम्यक्त्व की अवस्था रहती है, बाद में सम्यक्त्व मोहनीय कर्म का उदय आजावे तो क्षयोपशम सम्यक्त्व रूप अवस्था आत्मा की हो जाती है और मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृतिका उदय आजावे तो मिश्र रूप अवस्था जीव की हो जाती है। और मिथ्यात्व कर्म प्रकृति का उदय आवे तो मिथ्यात्व रूप आत्मा की अवस्था हो जाती है।

जब सम्यक्त्व मोहनीय कर्म प्रकृति का उदय आता है तब क्षयोपशम रूप सम्यग्दर्शन की अवस्था रहती है। उस सम्यग्दर्शन में सूक्ष्म समल तत्वार्थ श्रद्धान रहता है जो केवलज्ञान गम्य है। सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की प्रकृति देशघाती है, इसलिये सम्यग्दर्शन का घात नहीं हो जाता है, परन्तु किञ्चित् मलीनता उत्पन्न आत्मा में हो जाती है। मूलघात नहीं करता इसलिये इसका नाम देशघाती है।

मिथ्यात्व तथा मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृति की वर्तमान काल में उदय आए बिना ही उसकी निर्जरा हो जाती है। इसका नाम क्षय है, और यह दोनों कर्म प्रकृतियों की आगामी काल में उदय आने योग्य निषेक की सत्ता है। उसी का नाम उपशम है, और सम्यक्त्व मोहनीय कर्म प्रकृति का उदय होना ही क्षयोपशम है।

मिथ्यात्व कर्म की प्रकृति, मिश्र मोहनीय कर्म की प्रकृति तथा सम्यक्त्व मोहनीय कर्म की प्रकृति के सर्व निषेकों का सत्ता में से नाश हो जाता है तब परम निर्मल क्षायक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति जीवमें हो जाती है। क्षायक सम्यग्दर्शन में प्रतिपक्षी कर्म का अत्यंत अभाव हो जाता है इसलिये परम निर्मल है और अनन्त काल तक यह सम्यग्दर्शन रहता है। क्षायक सम्यग्दर्शन की जब से प्राप्ति होती है तब से लेकर अनन्त काल तक समान ही अवस्था रहती है।

जिस आत्मा में क्षायक सम्यग्दर्शन रूप निर्मल परिणति हो चुकी वह नियम से मोक्षमार्गी हो चुका। इसलिये कहा है कि क्षायक सम्यग्दृष्टि-आत्मा भगवान का लघु नंदन बनगया। ऐसा लघु नंदन बनने मे प्रधान कारण आगम द्वारा तत्त्व का निर्णय करना ही है। ऐसे परमागम बनाने में प्रधान कारण परम वीतराग सर्वज्ञ देव शासनकर्त्ता भगवान महावीर स्वामी की दिव्यध्वनि है। क्योंकि

उस दिव्य-ध्वनि द्वारा ही आचार्य प्रवर गणधर देव श्री गौतम स्वामी ने सूत्र रूप आगम की रचना की। उनका परम २ उपकार है, परन्तु काल दोष से इस आगम का लोप होगया तो भी परम्परा ज्ञान के धारक आचार्य वर्ग की आत्मा में ऐसी परम करुणा हुई कि संसार के आत्मा का कल्याण कैसे हो इस विकल्प के साथ योग के अनुकूल आगम की रचना हो गई। ऐसे परम कल्याण कारक आचार्य भगवन्त कुन्द-कुन्द स्वामी, पुष्पदंत स्वामी, भूतवलि स्वामी, वीरसेन स्वामी, अमृतचन्द्र स्वामी, समन्तभद्रस्वामी और भट्टारक अकलंक देव आदि आचार्यों का हमारे आत्मा पर महान उपकार है। ऐसे साक्षात् मोक्षमार्ग दिखाने वाले जैन धर्म रूपी आत्मा की निर्मल पर्याय जयवन्त हो ! जयवन्त हो !! जयवन्त हो !!!

पंचलब्धि की रचना वीर संवत् २४७६ में हुई थी। परन्तु उस काल में ग्रन्थ रचना का खास कोई ऐसा भाव ही नहीं था, परंतु ऐसा होनहार था हो चुका। पंचलब्धि की पुस्तकें प्रायः पूर्ण होजाने के कारण एवं समाज ने बहुत प्रेम से उसको अपनाई। अतः ऐसा विकल्प हुआ कि इसमें यदि विशेष विस्तार से नया संस्करण बनाया जावे तो उत्तम दरमियान में वीर निर्वाण संवत् २४७८ के चातुर्मास जयपुर नगरी में करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। जयपुर की समाज ने बहुत भक्ति और साधर्मी प्रेम दिखाया।

नया संस्करण बनाने का विकल्प जयपुर में ही हुआ, परन्तु वहां खास तौर से समय का अभाव ही रहा। जिसमें विशेष कारण जयपुर निवासी जिज्ञासु जीवों की विशेष रूप भावना ही थी। जयपुर से वीर निर्वाण संवत् २४७९ के मंगसिर वदी १ रविवार तारीख दो नवम्बर सन् १९५२ ई को विहार कर सीकर नगर में आना हुवा। सीकर नगरी (राजस्थान) में मंगसिर सुदि १ मंगलवार को पंचलब्धि का नया संस्करण बनाने का विकल्प हुआ और विकल्प के अनुसार योग भी प्राप्त हुवा। सीकर से दोकोश दूर दूजोद ग्राम जाना हुवा। वहां एक भव्य दिगम्बर जैन मंदिर का निर्माण अभी हाल ही में हुआ है। मंदिर अति सुन्दर है। जिसके बीच के महल में भव्य वेदी पर भगवान महावीर स्वामी की मनोज्ञ संगमरमर पाषाण की पांच फुट की पद्मासन प्रतिमा विराजमान है। उस हाल (महल) की लम्बाई ५० फुट और चौडाई ४० फुट की है। ग्राम में जैन भाइयों की बस्ती मात्र २० बीस घर की ही है परन्तु उनमें धर्म-प्रभावना बहुत है। इस ग्राम में पौष वदी ५ शनिवार तारीख ६-दिसम्बर ईस्वी सन् १९५२ की पिछली रात के तीन बजे यह दूसरा संस्करण श्री पंचलब्धि ग्रन्थ का समाप्त हुआ है।